श्रीमातृवाणी

माताजी के वचन

II

श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी

माताजी के वचन

II

श्रीमाताजी

माताजी के वचन

II

श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा प्रकाशित १९८१
श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित
प्रथम संस्करण (संशोधित) २००९
संशोधनकर्त्री : सन्तोष गुप्ता

Rs 180

ISBN 978-81-7058-882-5

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट २००९
प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पॉण्डिचेरी ६०५००२
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

Mataji ke Vachan - II (Hindi)
Words of the Mother - II by the Mother

Published by Sri Aurobindo Society 1981
First edition published by
Sri Aurobindo Ashram Publication Department 2009

© Sri Aurobindo Ashram Trust 2009
Published by Sri Aurobindo Ashram Publication Department
Pondicherry 605 002
Web http://www.sabda.in

Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry
PRINTED IN INDIA

प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक में जीवन और योग के बारे में माताजी के विभिन्न वक्तव्य संग्रहीत हैं। ये मुख्य रूप से सार्वजनिक वक्तव्यों, व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार और टिप्पणियों से लिये गये हैं। कुछ ध्वन्यांकित टिप्पणियां भी हैं। कुछ में माताजी की बातचीत है जिसे साधकों ने लिख लिया और माताजी को दिखाकर उनकी स्वीकृति ले ली थी। जो वक्तव्य सुनकर बाद में लिख लिये गये हैं उनके नीचे यह चिह्न † दिया जा रहा है। उसी तरह जहां अंग्रेजी में कैपिटल लैटर हैं वहां हिन्दी पर्याय के साथ एक उद्धरण चिह्न दे दिया गया है।

इनमें से बहुत-सी टिप्पणियां आश्रम के विविध प्रकाशनों में छप चुकी हैं जो बहुत-सी फ्रेंच में हैं, कुछ अंग्रेजी में।

पुस्तक को विभिन्न भागों में बांटा गया है पर यह जरूरी नहीं है कि एक विषय के सभी वक्तव्य एक भाग में आ गये हों। ऐसे वक्तव्यों की कमी नहीं है जिनमें एक से अधिक विषय आ गये हों।

१९५४-५५ के एक-एक पंक्तियों के बहुत-से वक्तव्य स्वयं माताजी ने अपनी पुस्तक "प्रार्थना और ध्यान" में से चुनकर लोगों को लिखकर दिये थे। कई संक्षिप्त परिभाषाएं वास्तव में फूलों को दिये गये अर्थ और उनकी व्याख्या हैं।

पाठकों को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि इन पत्रों, टिप्पणियों या वक्तव्यों को प्रकाशन के लिए या सिद्धान्त निरूपण के लिए नहीं लिखा गया था। इनमें से अधिकतर विशेष व्यक्तियों को विशेष परिस्थितियों में दिये गये आदेश, निर्देश और परामर्श हैं।

Do not take my words for a teaching. Always they are a force in action, uttered with a definite purpose, and they lose their true power when separated from that purpose.

मेरे वचनों को एक शिक्षा के रूप में न लो। वे हमेशा क्रियाशील शक्ति होते हैं जिन्हें एक निश्चित उद्देश्य के साथ कहा जाता है और उन्हें उस उद्देश्य से अलग कर दिया जाये तो वे अपनी सच्ची शक्ति खो बैठते हैं।

—श्रीमां

विषय-सूची

भाग १ : भगवान् के साथ मनुष्य का सम्बन्ध

जीवन का सच्चा लक्ष्य ३
भगवान् तुम्हारे साथ हैं १०
"भगवान्" और "मनुष्य" १८
भगवान् के साथ सम्बन्ध २०
प्रभु की कार्य-पद्धतियां २५

भाग २ : योग-मार्ग

मार्ग ३१
योग ३५
पूर्णयोग ३६
यौगिक कर्म ३९
साधना के पहलू ४१
तपस्या ४९
तपश्चर्याएं ५१
एकाग्रता ५५
ध्यान ५७
अनुभूतियां और अन्तर्दर्शन ५९
गुरु ६६
सामान्य ६८

भाग ३ : योग के तत्त्व

सचाई ७१
कपट, आडम्बर, आत्म-वंचना ७४
अभीप्सा ७९
अभीप्सा, पुकारना और खींचना ८५
श्रद्धा और भागवत कृपा ८६
श्रद्धा ८६

विश्वास	८८
निश्चिति	९०
भागवत कृपा	९०
भागवत सहायता	९३
भगवान् की कृपा और सहायता में श्रद्धा	९५
भागवत कृपा और सहायता पर भरोसा	१००
भागवत कृपा और कठिनाइयां	१०३
भक्ति और आत्मदान	१०७
भक्ति	१०७
पूजा	१०७
अर्पण	१०८
निवेदन	१०९
आत्म-दान	११०
भागवत सेवा	११४
भागवत इच्छा के प्रति समर्पण	११७
समर्पण	११७
वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं	११९
समर्पण की कठिनाइयां	१२३
प्रेम	१२७
भागवत प्रेम	१२७
भागवत प्रेम और मानव प्रेम	१३०
प्रेम और काम-वासना	१३७
'भगवान्' के लिए प्रेम	१४१
सामान्य	१४४
शान्ति और नीरवता	१४६
स्थिरता	१४६
अचंचलता	१४८
शान्ति	१५२
नीरवता	१५५
खुलापन और ग्रहणशीलता	१५८

खुलापन	१५८
विशालता	१५९
नमनीयता	१६०
ग्रहणशीलता	१६०
पवित्रता और नम्रता	१६४
पवित्रता	१६४
सरलता	१६६
नम्रता और विनय	१६७
कृतज्ञता और निष्ठा	१७०
कृतज्ञता	१७०
निष्ठा	१७२
आज्ञापालन	१७३
संकल्प और अध्यवसाय	१७४
संकल्प	१७४
अग्नि	१७५
निश्चय	१७५
दृढ़ निश्चय	१७६
स्थिर प्रयास	१७६
आग्रह	१७८
अध्यवसाय	१७८
सहनशीलता	१८१
धैर्य	१८२
शूरता और वीरता	१८६
निर्भयता	१८७
साहस	१८७
बल, सामर्थ्य और शक्ति	१८९
सावधानी और सन्तुलन	१९१
उत्साह और स्पष्टवादिता	१९३
उदात्तता और सुरुचि	१९५
सुख और हर्ष	१९८

प्रसन्नता	१९८
सुख	१९८
हर्ष	२०१
परम आनन्द और आनन्द	२०२
सामंजस्य और सद्भावना	२०३
सामंजस्य	२०३
सहयोग	२०५
सद्भावना	२०५
शुभचिन्ता	२०५
सहिष्णुता	२०७
स्वाधीनता	२०८
सत्य और वाणी	२१०
सत्य	२१०
मिथ्यात्व और सत्य	२१४
सत्य मन के ऊपर है	२१७
राय और सत्य	२२०
ईमानदारी	२२२
हमेशा सच बोलो	२२३
वाणी का संयम	२२४
कथनी और करनी	२३०

भाग ४ : कठिनाइयां

परिस्थितियां	२३५
परिस्थितियां : कारण नहीं परिणाम	२३५
परिस्थितियां : पूर्व कर्मों के परिणाम	२३५
परिस्थितियां और हमारी आन्तरिक स्थिति	२३८
कठिनाइयां	२४१
कठिनाइयों का कारण और उनकी उपयोगिता	२४१
कठिनाइयों के बारे में कभी शिकायत न करो	२४४
कठिनाइयों के बारे में कभी चिन्ता न करो	२४६

कठिनाइयों के बारे में भूल जाओ २४७
कठिनाइयों का सामना करो और उन्हें जीतो २४९
भूलें २५८
भूलें मिटाई जा सकती हैं २५८
भूलें : संताप, चिंता या दुःख मत करो २५९
भूलें : पहचानो और उन्हें सुधारो २६२
दुर्बलताएं २६५
भय २६५
सन्देह २६९
अवसाद २७०
दुःख २७३
आलस्य, थकान, श्रांति, तमस् २७४
भौतिक कामनाएं २७६
लोभ (भोजन के लिए) २७७
कामनाएं, आवेग और आत्मसंयम २७९
अहंकार २८४
स्वार्थपरता २८६
घमंड २८६
अहंमन्यता २८७
महत्त्वाकांक्षा २८७
ईर्ष्या २८८
लड़ाई-झगड़े २८९
संकीर्णता और पक्षपात २९५

भाग ५ : मानव सम्बन्ध

औरों का मूल्यांकन करना २९९
औरों की तथा संसार की सहायता ३०३
औरों की राय ३०७
औरों से आसक्ति ३११
भगवान् के प्रति तथा औरों के प्रति कर्तव्य ३१४

सामान्य ३१७
नर और नारी ३१८
दासता ३१८
विवाह और बच्चे ३२०

भाग ६ : कर्म

कर्म—भगवन् के प्रति अर्घ्य ३२७
कर्म में प्रगति और पूर्णता ३३४
कर्म में सहयोग और सामंजस्य ३४०
कर्म में कठिनाइयां ३४६
चुपचाप काम करो ३५२
भौतिक चीजों की सम्भाल ३५४
सामान्य ३५५

भाग ७ : सत्ता के भाग

अंतरात्मा (चैत्य) ३६१
मन ३७२
मन : केवल एक यंत्र ३७२
मानसिक सीमाएं और दुर्बलताएं ३७४
अचंचल मन, स्थिर मन, नीरव-निश्चल मन ३८१
हृदय ३८४
प्राण ३८७
इंद्रियां ३९३
शरीर (भौतिक) ३९४
अवचेतना ३९८
सामान्य ४०२

भाग १

भगवान् के साथ मनुष्य का सम्बन्ध

जीवन का सच्चा लक्ष्य

हम धरती पर क्यों हैं?

भगवान् को पाने के लिए जो हममें से हर एक के अन्दर और सभी चीजों में हैं।

*

बस एक ही चीज महत्त्वपूर्ण है, वह है भगवान् को पाना।

हर एक के लिए और समस्त जगत् के लिए हर चीज उपयोगी हो सकती है यदि वह भगवान् को पाने में सहायक हो।

*

जीवन भगवान् की खोज करने के लिए है। जीवन चरितार्थ होता है भगवान् को पाकर।

*

हमारे जीवन की एकमात्र आवश्यकता यही हो—भगवान् को पाना।

*

हां, 'भागवत उपस्थिति' की चेतना में रहना ही एकमात्र चीज है जिसका मूल्य है।

२ जून, १९३४

*

एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है, हमारे अन्दर और हमारे लिए जो भगवान् चाहते हैं वही चाहना।

५ अप्रैल, १९३५

*

व्यष्टिगत आत्मा और समष्टिगत आत्मा एक ही हैं, हर एक जगत् में, हर एक सत्ता में, हर एक वस्तु में, हर अणु में 'भागवत उपस्थिति' मौजूद है और मनुष्य का लक्ष्य है उसे अभिव्यक्त करना।

३० अक्तूबर, १९५१

*

हम भागवत इच्छा को अभिव्यक्त करने के लिए धरती पर हैं।

२७ जुलाई, १९५४

*

एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है वह लक्ष्य जिसे प्राप्त करना है, मार्ग का कोई महत्त्व नहीं है और प्रायः उसे पहले से न जानना ज्यादा अच्छा है।

१५ नवम्बर, १९५४

*

हम चाहे जो करें, हमें सदा अपने लक्ष्य को याद रखना चाहिये।

७ दिसम्बर, १९५४

*

धरती पर हमारे जीवन का लक्ष्य है भगवान् के बारे में सचेतन होना।

*

जीवन का सच्चा उद्देश्य :

भगवान् के लिए जीना या 'सत्य' के लिए जीना या कम-से-कम अपनी अन्तरात्मा के लिए जीना।

और सच्ची निष्कपटता—

भगवान् से बदले में किसी लाभ की आशा किये बिना 'उनके' लिए जीना।

२० जनवरी, १९६४

*

मेरी सच्ची नियति क्या है?

सच्ची नियति है 'भागवत चेतना' तक पहुंचना।

इस जीवन में मेरा सच्चा मूल्य क्या है?

भगवान् की सेवा करना।

२२ अक्तूबर, १९६४

*

भगवान् की सेवा के लिए जीना ही जीने का एकमात्र योग्य कारण है।

जनवरी, १९६६

*

जीवन के लक्ष्य को अहंकार के स्थान पर भगवान् की ओर परिवर्तित करना : स्वयं अपनी सन्तुष्टि खोजने की जगह भगवान् की सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाना।

*

तुम्हें जो चीज जाननी चाहिये वह है, ठीक तरह से यह जानना कि तुम जीवन में क्या करना चाहते हो। इसे सीखने में जो समय लगता है उसकी कुछ परवाह नहीं क्योंकि जो लोग 'सत्य' के अनुसार जीना चाहते हैं, उनके लिए हमेशा कुछ सीखने के लिए, कुछ प्रगति करने के लिए होता ही है।

२ अक्तूबर, १९६९

*

जीवन का सच्चा लक्ष्य है अपने अन्दर की गहराइयों में 'भगवान् की उपस्थिति' को पाना और 'उसके' प्रति समर्पण करना ताकि 'वह' जीवन का, सभी भावनाओं और शरीर की क्रियाओं का मार्गदर्शन करे।

यह चीज जीवन को सच्चा और प्रकाशमय लक्ष्य प्रदान करती है।

२८ मार्च, १९७०

*

जीवन का एक प्रयोजन है।

यह प्रयोजन है भगवान् को खोजना और उनकी सेवा करना।

भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अन्दर हैं, अन्दर गहराई में, भावनाओं और विचारों के ऊपर। भगवान् के साथ हैं शान्ति, निश्चिति और साथ ही सभी कठिनाइयों का समाधान।

अपनी समस्याएं भगवान् को सौंप दो और 'वे' तुम्हें कठिनाइयों से उबार लेंगे।

३ जुलाई, १९७०

There is a purpose in life — and it is the only true and lasting one —
The Divine
Turn to Him and the emptiness will go.
blessings

जीवन का एक प्रयोजन है—और वही एकमात्र सच्चा और स्थायी प्रयोजन है—वह हैं भगवान्। 'उनकी' ओर मुड़ो तो रिक्तता चली जायेगी।

आशीर्वाद।

*

तुम यहां अपनी अन्तरात्मा के साथ सम्पर्क साधने के लिए हो, और इसी कारण जीते हो, निरन्तर अभीप्सा करो और अपने मन को नीरव करने की कोशिश करो। अभीप्सा हृदय से आनी चाहिये।

११ जून, १९७१

*

वही होना और अधिकाधिक वही बनना जो भगवान् हमें बनाना चाहते हैं। यही हमारी सबसे बड़ी तल्लीनता होनी चाहिये।

२५ जुलाई, १९७१

*

'दिव्य जीवन' को प्राप्त करने योग्य सबसे महत्त्वपूर्ण चीज समझो।

*

सुख जीवन का उद्देश्य नहीं है।

साधारण जीवन का लक्ष्य है अपना कर्तव्य पूरा करना, आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है भगवान् को पाना।

*

जगत् में, जैसा कि वह है, जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुख पाना नहीं बल्कि अपने को उत्तरोत्तर सत्य-चेतना की ओर जगाना है।

*

हम सुखी होने के लिए धरती पर नहीं हैं क्योंकि पार्थिव जीवन की वर्तमान दशा में सुख असम्भव है। हम धरती पर भगवान् को पाने और चरितार्थ करने के लिए हैं क्योंकि केवल 'दिव्य चेतना' ही सच्चा सुख दे सकती है।

*

सुखी होने के लिए मत जियो। भगवान् की सेवा करने के लिए जियो,

इससे तुम्हें जो आनन्द मिलेगा वह आशातीत होगा।

मार्च, १९७२

*

मनुष्य ने जब तक भगवान् को न पा लिया हो तब तक उसका जीवन अपूर्ण है।

२ जून, १९७२

*

भगवान् सब जगह और सब चीजों में हैं; उनकी अभिव्यक्ति के लिए हम 'उन्हें' खोजने और 'उनके' साथ एक होने के लिए बनाये गये हैं।

१७ सितम्बर, १९७२

*

मनुष्य भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए बनाया गया था। इसलिए उसका कर्तव्य है कि भगवान् के बारे में सचेतन हो और अपने-आपको पूरी तरह 'उनकी इच्छा' के प्रति अर्पण कर दे। बाकी सब, चाहे कुछ भी क्यों न दीखता हो, मिथ्यात्व और अज्ञान है।

२६ दिसम्बर, १९७२

*

हम व्यक्तिगत मोक्ष नहीं बल्कि भगवान् के प्रति अपनी सत्ता का पूर्ण समर्पण चाहते हैं।

*

भगवान् पर एकाग्रता ही सचमुच एकमात्र संगत चीज है। वही करना जो भगवान् हमसे करवाना चाहते हैं, यही एकमात्र संगत चीज है।

६ जनवरी, १९७३

*

जो स्थायी, शाश्वत, अमर और अनन्त हो, वस्तुतः वही पाने योग्य है, जीतने योग्य है, अधिकृत करने योग्य है। वह है 'दिव्य ज्योति', 'दिव्य प्रेम', 'दिव्य जीवन'—वह 'परम शान्ति', 'पूर्ण आनन्द' और धरती पर 'पूर्ण प्रभुत्व' भी है और इसका मुकुट है 'पूर्ण भागवत अभिव्यक्ति'।

भगवान् तुम्हारे साथ हैं

Never forget that you are not alone. The Divine is with you helping and guiding you. He is the companion who never fails, the friend whose love comforts and strengthens. Have faith and He will do everything for you.

यह कभी न भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारी सहायता और तुम्हारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। 'वे' ऐसे साथी हैं जो कभी धोखा नहीं देते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम दिलासा देता और बल देता है। श्रद्धा रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।

*

यह कभी न भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारी सहायता और तुम्हारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। 'वे' ऐसे साथी हैं जो कभी धोखा नहीं देते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम दिलासा देता और बल देता है। जितना अधिक तुम अकेलापन अनुभव करोगे उतना ही अधिक तुम उसकी ज्योतिर्मयी 'उपस्थिति' को महसूस कर सकने के लिए तैयार होगे। श्रद्धा रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।

२७ सितम्बर, १९५१

*

केवल भगवान् में ही हम वह सब पायेंगे जिसकी हमें जरूरत है।

१७ अप्रैल, १९५४

*

केवल भगवान् ही पूर्ण सुरक्षा दे सकते हैं।

१८ अप्रैल, १९५४

*

'दिव्य चेतना' ही तुम्हारे जीवन में मार्गदर्शन करने वाली शक्ति हो।

२२ अप्रैल, १९५४

*

'भागवत उपस्थिति' हमेशा तुम्हारे साथ हो।

२७ अप्रैल, १९५४

*

तुम जो भी करो, भगवान् को सदा याद रखो।

५ मई, १९५४

*

जहां कहीं और जब कभी सम्भव हो भगवान् धरती पर अभिव्यक्त होते हैं।

१० जून, १९५४

*

प्रत्येक हृदय में 'भगवान् की उपस्थिति' भविष्य की और सम्भव पूर्णताओं की प्रतिज्ञा है।

१६ जून, १९५४

*

हम केवल भगवान् में ही सम्पूर्ण शान्ति और पूर्ण सन्तोष पा सकते हैं।

५ जुलाई, १९५४

*

चीजों की सतह के पीछे पूर्ण चेतना का सागर है जिसमें हम हमेशा डुबकी लगा सकते हैं।

७ अगस्त, १९५४

*

एक ऐसी चेतना है जिसे कोई चीज भ्रष्ट, विकृत या दूषित नहीं कर सकती। यही वह चीज है जिसे हम 'भागवत चेतना' कहते हैं।

*

'भागवत चेतना' ही हमारी एकमात्र पथ-प्रदर्शक हो।

११ अगस्त, १९५४

*

'भागवत चेतना' ही एकमात्र सच्ची सहायता, एकमात्र सच्चा सुख है।

१२ अगस्त, १९५४

*

'प्रभु' ने कहा है, "समय आ गया है" और सभी विघ्न-बाधाएं पार कर ली जायेंगी।

९ सितम्बर, १९५४

*

भगवान् ही समस्त जीवन का रस हैं और सभी क्रियाकलाप का कारण हैं, हमारे विचारों के लक्ष्य हैं।

१० सितम्बर, १९५४

*

'भगवान् की उपस्थिति' हमारे लिए निरपेक्ष, निर्विवाद और अपरिवर्तनशील तथ्य है।

१२ सितम्बर, १९५४

*

भगवान् के अन्दर, भगवान् के द्वारा सब कुछ रूपान्तरित और महिमान्वित होता है। भगवान् के अन्दर सभी रहस्यों और शक्तियों की चाबी पायी जाती है।

१४ सितम्बर, १९५४

*

सभी में भगवान् के परम चिंतन से आने वाली अपरिवर्तनशील शान्ति और भगवान् की अटल अनन्तता की शान्त अन्तर्दृष्टि की कमी है।

२२ सितम्बर, १९५४

*

भगवान् की ज्योति में हम देखेंगे, भगवान् के ज्ञान में हम जानेंगे, और भगवान् की इच्छा में उपलब्ध करेंगे।

१ अक्तूबर, १९५४

*

भगवान् के बाहर सब कुछ मिथ्या, भ्रान्ति और दुःखपूर्ण अंधकार है। भगवान् में हैं जीवन, प्रकाश और आनन्द। भगवान् के अन्दर ही परम शान्ति है।

२ अक्तूबर, १९५४

*

हमारी सारी शक्ति भगवान् के साथ होने में है। उनके साथ हम सब बाधाओं को पार कर सकते हैं।

४ अक्तूबर, १९५४

*

रात की नीरवता में भगवान् की आवाज सुरीले राग की तरह सुनायी देती है।

७ अक्तूबर, १९५४

*

भगवान् की विजय इतनी सम्पूर्ण होती है कि 'उनके' विरुद्ध उठने वाली हर बाधा, हर दुर्भावना, हर घृणा एक विशालतर और पूर्णतर विजय की प्रतिज्ञा बन जाती है।

९ अक्तूबर, १९५४

*

हम भगवान् की ज्योति की प्रचुरता के लिए 'उनका' आवाहन करते हैं, ताकि 'वे' हमारे अन्दर अपने को अभिव्यक्त करने की शक्ति जगायें।

१० नवम्बर, १९५४

*

भगवान् के शब्द आराम पहुंचाते और असीसते हैं, ठण्डक पहुंचाते और ज्योति प्रदान करते हैं और भगवान् के उदार हाथ उस परदे की एक तह को उठाते हैं जो अनंत ज्ञान को छिपाये हुए है।

१८ नवम्बर, १९५४

*

भगवान् के चिन्तन का वैभव कितना शान्त, उदात्त और पवित्र होता है।

१९ नवम्बर, १९५४

*

एक नितान्त नूतन जीवन के साथ भगवान् के अन्दर निवास करने से, ऐसा जीवन जीने से जो एकमात्र भगवान् से बना हुआ हो, जिसमें भगवान् ही परम 'प्रभु' हों, सब परेशानियां अक्षोभ में और सारी मनोव्यथाएं शान्ति में बदल जायेंगी।

२३ नवम्बर, १९५४

*

हम अपने अन्दर भगवान् को इतने जीवित-जाग्रत् रूप में अनुभव करते हैं कि हम घटनाओं के लिए धैर्य के साथ प्रतीक्षा करते हैं। हम जानते हैं कि 'उनका' मार्ग सब जगह है क्योंकि हम 'उन्हें' हमेशा अपनी सत्ता में लिये रहते हैं।

२४ नवम्बर, १९५४

*

भगवान् की महिमा पराजयों को शाश्वत की विजय में बदल देती है, छायाएं 'उनकी' प्रकाशमयी किरणों के सामने आते ही भाग खड़ी होती हैं।

९ दिसम्बर, १९५४

*

भगवान् की उपस्थिति हमें शक्ति में शान्ति, कर्म में प्रशान्ति और सब परिस्थितियों के बीच अपरिवर्तनशील सुख देती है।

१३ दिसम्बर, १९५४

*

भगवान् विशुद्ध सुख हैं, आनन्दपूर्ण सौभाग्य हैं। परन्तु यह सौभाग्य पूर्ण तभी होता है जब समग्र हो।

२२ दिसम्बर, १९५४

*

भगवान् वह मित्र, वह 'शक्ति', वह 'सहारा' और वह 'मार्गदर्शक' हैं जो कभी धोखा नहीं देते, भगवान् वह 'प्रकाश' हैं जो अंधकार को तितर-बितर कर देता है, वह विजेता हैं जो विजय को निश्चित बनाता है।

२३ दिसम्बर, १९५४

*

केवल भगवान् ही वह सहारा है जो कभी निराश नहीं करता।

*

एकमात्र प्रत्युत्तर जो कभी निराश नहीं करता भगवान् का प्रत्युत्तर है।

एकमात्र प्रेम जो कभी निराश नहीं करता भगवान् का प्रेम है।

एकमात्र भगवान् से प्रेम करो और भगवान् हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे।

६ अगस्त, १९६३

*

एकमात्र 'परम प्रभु' की राय का महत्त्व है।

एकमात्र 'परम प्रभु' ही हमारे प्रेम के अधिकारी हैं और 'वे' उसे हजार गुना करके लौटाते हैं।

११ फरवरी, १९७०

*

केवल भगवान् को ही अपनी अन्तरात्मा का विश्वासपात्र समझो।

*

केवल भगवान् के बारे में ही सोचो और भगवान् तुम्हारे साथ होंगे।

*

एकमात्र व्यवसाय, एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र आनन्द—भगवान्।

*

अपने ही ऊपर एकाग्रता का अर्थ है क्षय और मृत्यु। केवल भगवान् पर एकाग्रता ही जीवन, विकास और उपलब्धि लाती है।

*

भगवान् के बिना जीवन एक दुःखद भ्रान्ति है, भगवान् साथ हों तो सब आनन्द है।

*

आदर्श वृत्ति है केवल भगवान् का ही होना, केवल भगवान् के लिए ही कार्य करना और सबसे बढ़कर, केवल भगवान् से ही बल, शान्ति और सन्तुष्टि की आशा करना। भगवान् परम दयालु हैं और वह सब देते हैं

जिसकी हमें लक्ष्य तक यथाशीघ्र पहुंचने के लिए जरूरत हो।

*

'भागवत उपस्थिति' ही जीवन को मूल्य प्रदान करती है। यह 'उपस्थिति' समस्त शान्ति, समस्त आनन्द, समस्त सुरक्षा का स्रोत है। अपने अन्दर इस 'उपस्थिति' को पा लो तो तुम्हारी सभी कठिनाइयां गायब हो जायेंगी।

*

'भागवत उपस्थिति' दिन-रात सतत मौजूद है।
चुपचाप अन्दर की ओर मुड़ना काफी है और हम उसे पा लेंगे।

*

हमेशा भगवान् को याद रखो और तुम जो कुछ करोगे वह 'भागवत उपस्थिति' की अभिव्यक्ति होगी।

*

क्रिया-कलाप में और मौन में, लेने में और देने में, हमेशा, 'तेरी' ही उल्लासपूर्ण स्मृति।

*

हमारे समस्त विचार, हमारे सभी भाव भगवान् की ओर उसी तरह बढ़ते हैं जिस तरह कोई नदी समुद्र की ओर बढ़ती है।

*

हमारे समस्त विचार, हमारी सभी भावनाएं, समस्त कार्य, सभी आशाएं 'भगवान्' की ओर मुड़ी रहें और 'उन्हीं' पर केन्द्रित हों। 'वे' हमारी एकमात्र सहायता, हमारी एकमात्र सुरक्षा हैं।

*

हां, मेरे बालक, यह बिलकुल सच है कि भगवान् ही एकमात्र आश्रय हैं—'उनके' साथ सम्पूर्ण सुरक्षा है।

"भगवान्" और "मनुष्य"

उन लोगों के लिए जो एक शब्द से डरते हैं।

भगवान् से हमारा मतलब यह है : समस्त ज्ञान जो हमें प्राप्त करना है, समस्त शक्ति जो हमें पानी है, समस्त प्रेम जो हमें बनना है, समस्त पूर्णता जो हमें प्राप्त करनी है, समस्त सामंजस्यपूर्ण और प्रगतिशील संतुलन जो हमें प्रकाश और आनन्द में अभिव्यक्त करना है, समस्त नूतन और अज्ञात भव्यताएं जिन्हें चरितार्थ करना है।

७ सितम्बर, १९५२

*

भगवान् वास्तव में वही हैं जो तुम अपनी गभीरतम अभीप्सा में 'उनसे' आशा करते हो।

*

भगवान् क्या हैं?

भगवान् वह पूर्णता हैं जिसे पाने के लिए हमें अभीप्सा करनी चाहिये।

८ नवम्बर, १९६९

*

भगवान् वह पूर्णता हैं जिसकी ओर हम गति कर रहे हैं।

और अगर तुम चाहो तो मैं तुम्हें बड़ी खुशी से 'उनकी' ओर ले चलूंगी।

भरोसा रखो।

१७ दिसम्बर, १९६९

***

हर सत्ता अपने अन्दर 'दिव्य निवासी' को लिये रहती है और यद्यपि

समस्त विश्व में कोई सत्ता इतनी दुर्बल नहीं जितना मनुष्य, पर कोई उसके समान दिव्य भी नहीं है।

२ अक्तूबर, १९५१

*

प्रत्येक प्राणी एक नित नया होनेवाला भजन है जिसे विश्व भगवान् की अचिन्त्य भव्यता और गरिमा को अर्पित करता है।

२९ नवम्बर, १९५४

*

'सत्य' की दृष्टि से हम सभी दिव्य हैं पर हम इसे मुश्किल से ही जानते हैं। और हमारे अन्दर जो चीज अपने-आपको दिव्य के रूप में नहीं जानती ठीक वही है जिसे हम अपना "स्व" कहते हैं।

*

हमारा मूल्य अपने-आपका अतिक्रमण करने के प्रयास के परिमाण में है और अपने-आपका अतिक्रमण करने का अर्थ है भगवान् को पाना।

मानव की सामान्य अवस्था असह्य है।

हम सचमुच जाननेवाले ज्ञान के लिए, सचमुच शक्तिशाली शक्ति के लिए, सचमुच प्रेम करनेवाले प्रेम के लिए अभीप्सा करते हैं।

*

मानव स्वभाव के उथलेपन से रुद्ध हुए हम अभीप्सा करते हैं ऐसे ज्ञान के लिए जो जानता है, ऐसी शक्ति के लिए जो कर सकती है, ऐसे प्रेम के लिए जो सचमुच प्रेम करता है।

२४ अप्रैल, १९६४

*

मैं कौन हूं?

अनेक छद्मवेशों में भगवान्।

१९६६

भगवान् के साथ सम्बन्ध

'परम प्रभु' के सिवा सब कुछ सापेक्ष है। केवल 'परम प्रभु' ही निरपेक्ष हैं लेकिन चूंकि 'परम प्रभु' हर सत्ता के केन्द्र में हैं इसलिए हर सत्ता अपने अन्दर अपने निरपेक्ष को लिये रहती है।

*

आखिर, यह बहुत सरल है, हमें केवल वही बनना है जो हम अपनी सत्ता की गहराइयों में हैं।

१८ मई, १९५४

*

कोई चीज 'भागवत चेतना' के साथ एक होने से बढ़कर सुन्दर नहीं है।

यदि तुम पूरी सचाई के साथ खोजो तो तुम जिसे खोज रहे हो उसे अवश्य पाओगे, क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे अन्दर ही है।

*

भगवान् से कोई यह नहीं कह सकता, "मैंने तुझे जान लिया है," फिर भी सब 'उसे' अपने अन्दर लिये रहते हैं और अपनी अन्तरात्मा की नीरवता में भगवान् की आवाज की प्रतिध्वनि सुन सकते हैं।

१३ नवम्बर, १९५४

*

भगवान् को प्रकट करने में अक्षम होते हुए भी व्यक्ति भगवान् को जी सकता है, भगवान् का वर्णन कर सकने या उनके बारे में समझा सकने में अक्षम होते हुए भी व्यक्ति भगवान् की नित्यता को उपलब्ध और चरितार्थ कर सकता है।

१५ दिसम्बर, १९५४

*

जिसे भगवान् के साथ ऐक्य प्राप्त है उसके लिए हर जगह भगवान् का पूर्ण सुख और आनन्द है। वह हर जगह और हर परिस्थिति में उसके साथ रहता है।

१७ दिसम्बर, १९५४

*

भगवान् के साथ सायुज्य : जिसे यह प्राप्त है, उसके लिए सभी परिस्थितियां सचमुच इसके लिए अवसर बन सकती हैं।

*

पूर्ण एकत्व का आनन्द तभी मिल सकता है जब जो करना है वह किया जा सके।

"भगवान् को जीत लेना एक कठिन काम है।" —मेरा ख्याल है कि मैं इस वाक्य को भली-भांति नहीं समझ पाया।

"जीत पाने" को "उपलब्ध करने" या "अधिकार में करने" के अर्थ में लो। तुम कह सकते हो—भगवान् की चेतना को जीतना कठिन काम है।

टीका : मनुष्यों के लिए भगवान् के बारे में सचेतन होना और 'उनके' स्वभाव को अधिकार में करना कठिन है।

*

जैसे-जैसे हम प्रगति करते और अपने-आपको अहंकार से शुद्ध कर लेते हैं, वैसे-वैसे भगवान् के साथ हमारी मैत्री अधिकाधिक स्पष्ट और सचेतन होती जाती है।

*

भगवान् के साथ मैत्री : कोमल, एकाग्र और निष्ठापूर्ण, जरा-सी पुकार पर उत्तर देने के लिए सदा तत्पर।

*

चेतना, समता और प्रेम के विकास के साथ भगवान् की समीपता हमेशा बढ़ेगी।

*

भगवान् को उग्रता द्वारा नहीं लिया जा सकता। केवल प्रेम और सामंजस्य द्वारा ही तुम भगवान् तक पहुंच सकते हो।

शान्त रहो, मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

१३ जुलाई, १९६६

*

भगवान् के लिए अनुरक्ति अपने-आपको भगवान् के चारों ओर लपेट देती है और उनसे पूरा सहारा पाती है ताकि उसे पूर्ण विश्वास हो कि वह 'उन्हें' कभी न छोड़ेगी।

*

भगवान् के लिए स्नेह : एक मधुर, विश्वासपूर्ण कोमलता जो अपने-आपको अविरत रूप से भगवान् को अर्पण करती है।

*

भगवान् के साथ घनिष्ठता : भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण और 'उनके' प्रभाव के प्रति पूर्ण ग्रहणशीलता, इस घनिष्ठता में कोई शर्त नहीं होती।

*

भौतिक में भगवान् के साथ घनिष्ठता उसी के लिए सम्भव होती है जो ऐकान्तिक रूप से भगवान् के द्वारा, भगवान् के लिए जीता है।

*

प्राण में भगवान् के साथ घनिष्ठता : केवल शुद्ध, शान्त और कामनाहीन प्राण ही इस अद्‌भुत स्थिति तक पहुंचने की आशा कर सकता है।

*

भगवान् के साथ चैत्य में घनिष्ठता: पूर्णतया विकसित चैत्य की स्वाभाविक अवस्था।

*

भगवान् के साथ सर्वांगीण घनिष्ठता: समस्त सत्ता भागवत स्पर्श के सिवा और किसी चीज से स्पन्दित नहीं होती।

*

'उन्हें' वैसा होना अच्छा लगता है। 'वे' वैसे हैं।

और बस, मर्म यह मानने में है कि "उन्हें अच्छा लगता है।"

केवल वही होना नहीं जिसे इन्द्रिय-ग्राही बनाया जाता है बल्कि 'उसमें' भी होना जो इन्द्रियग्राही बनाता है। वही सब कुछ है।

*

'सर्वव्यापी', 'शाश्वत पुरुष' अक्षय 'एकमेव' रहता है। 'उसकी' सेवा करने और उसे समझने के विभिन्न तरीके उसकी 'परम सद्वस्तु' में कोई फर्क नहीं करते।

*

(सम्बन्ध के प्रकार)

'प्रभु' और उनकी 'शक्ति'
भगवान् और उनका भक्त
पिता और उसका बालक
गुरु और उसका शिष्य
'प्रेमी' और 'प्रेयसी'
'मित्र' और सहकर्मी
शिशु और उसकी जननी

*

अपने-आपको भगवान् के प्रति अर्पित करना, भगवान् को ग्रहण करना और वही बनना, भगवान् को संचारित करना और फैलाना : ये तीन युगपत् होनेवाली गतियां हैं जिनसे भगवान् के साथ हमारा पूर्ण सम्बन्ध बनता है।

प्रभु की कार्य-पद्धतियां

भगवान् की 'कृपा' अद्भुत और सर्वशक्तिमान् है।

और भगवान् के काम करने के तरीके आनन्ददायी हास्यरस से भरे हैं...

*

हमेशा भगवान् का स्वागत करने के लिए तैयार रहो, 'वे' किसी भी क्षण तुम्हारे यहां आ सकते हैं।

और अगर कभी 'वे' तुमसे निश्चित मिलन-स्थल पर प्रतीक्षा करवाते हैं तो निश्चय ही यह कोई कारण नहीं है कि तुम स्वयं देर करो।

२३ सितम्बर, १९५६

*

यह बिलकुल स्पष्ट है कि किसी-न-किसी कारण से—और हो सकता है कि बिना किसी कारण के ही—'परम प्रभु' ने इस बारे में 'अपना' मन बदल लिया हो।

२५ जनवरी, १९५८

*

तुम्हारी श्रद्धा की परीक्षा लेने के लिए और यह देखने के लिए कि क्या वह बाहरी वस्तु पर इतनी निर्भर है, 'परम प्रभु' ने अपना निर्णय बदल लिया होगा।

९ फरवरी, १९५८

*

निश्चय ही, और सबकी तरह भगवान् को भी 'अपना' मन बदलने का अधिकार है।

१९५८

*

अगर हम अपने अन्दर स्थित भगवान् के साथ बातचीत करना चाहें तो क्या यह सम्भव है? अगर है तो किस शर्त पर?

'भगवांन्' बातचीत में रस नहीं लेते।

क्या कभी भगवान् हमसे नाराज होते हैं? अगर हां, तो कब?

जब तुम मान लो कि 'वे' नाराज हैं।

अगर हम भगवान् के लिए आंसू बहायें तो क्या 'वे' भी कभी हमारे लिए आंसू बहाते हैं?

निश्चय ही 'उनके' अन्दर तुम्हारे लिए गहरी अनुकम्पा है लेकिन 'उनकी' आंखें ऐसी नहीं हैं जो आंसू बहायें।

२१ सितम्बर, १९६४

*

यह हो सकता है कि भगवान् चीजों को उसी तरह नहीं देखते जैसे आदमी देखते हैं।

'साधना' के लिए एक आकस्मिक अभिव्यक्ति बहुत उपयोगी हो सकती है।

२२ अगस्त, १९६६

*

मनुष्य के विधान के अनुसार अपराधी को दण्ड मिलना चाहिये। लेकिन एक विधान है जो मानव विधान की अपेक्षा अधिक अनिवार्य है। वह है 'भागवत' विधान, अनुकम्पा और दया का विधान।

इसी विधान के कारण संसार सह पा रहा है और 'सत्य' तथा 'प्रेम' की ओर प्रगति कर रहा है।

नवम्बर, १९६६

*

माताजी,

क्या भगवान् अन्याय के लिए दण्ड देते हैं? क्या भगवान् के लिए किसी को दण्ड देना सम्भव है?

भगवान् चीजों को उस तरह नहीं देखते जैसे मनुष्य देखते हैं और उन्हें दण्ड देने और पुरस्कार देने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक कर्म अपने अन्दर अपना फल और अपना परिणाम लिये रहता है।

कर्म की प्रकृति के अनुसार वह तुम्हें 'भगवान्' के निकट लाता है या 'उनसे' दूर ले जाता है। और यही परम परिणाम है।

२५ जुलाई, १९७०

*

मनुष्य अपने-आपको भगवान् से अलग कर सकने में सक्षम होते हैं, और बहुधा करते भी हैं लेकिन भगवान् के लिए अपने-आपको मनुष्यों से अलग कर लेना असम्भव है।

*

अगर परम 'चेतना' मनुष्यों की त्रुटियों पर क्रुद्ध होती तो मनुष्यजाति कब की खतम हो गयी होती।

७ जून, १९७२

*

मनुष्यों को शुरू से ही अच्छा क्यों नहीं बनाया गया?

भगवान् ने मनुष्य को दुष्ट नहीं बनाया।

स्वयं मनुष्य अपने-आपको भगवान् से अलग करके दुष्ट बना लेता है।

***

भगवान् भले ही तुम्हारी ओर झुक आयें परन्तु 'उन्हें' ठीक तरह

समझने के लिए तुम्हें 'उन' तक उठना होगा।

*

भगवान् को समझने के लिए हमारे अन्दर पसन्दें बाकी न रहनी चाहियें।

*

भगवान् को समझने के लिए तुम्हें भगवान् बनना चाहिये।

२४ मई, १९७२

भाग २

योग-मार्ग

मार्ग

पहाड़ी रास्ता हमेशा दो दिशाओं में जाता है, ऊपर की ओर और नीचे की ओर—सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम किस ओर मुंह करते हो।

*

जीवन सत्य और मिथ्यात्व के बीच, प्रकाश और अंधकार, प्रगति और अवनति, ऊंचाइयों की ओर आरोहण या रसातल में पतन के बीच निरंतर चुनाव है। हर एक आजादी से चुन सकता है।

२९ फरवरी, १९५२

*

हर एक के जीवन में एक ऐसा क्षण आता है जब उसे दिव्य मार्ग और घालमेल के बीच चुनाव करना होता है। तुम एक पांव यहां और एक वहां नहीं रख सकते। अगर तुम यह करने की कोशिश करोगे तो तुम्हारे चिथड़े हो जायेंगे।

जो हृदय चुनाव नहीं करता वह ऐसा हृदय है जो मृत्यु को प्राप्त होगा।

*

तुम आध्यात्मिक जीवन तभी स्वीकार करो जब तुम अनुभव करो कि तुम अन्यथा कर ही नहीं सकते।

२७ अक्तूबर, १९५२

*

मार्ग जाना हुआ हो तो उस पर चलना आसान होता है।

१९ अगस्त, १९५४

*

मार्ग का अन्त तक अनुसरण करने के लिए तुम्हें बहुत धैर्यपूर्ण सहिष्णुता

से सुसज्जित होना चाहिये।

४ सितम्बर, १९५४

*

आध्यात्मिक मार्ग पर आगे रखा हुआ हर कदम एक विजय और संग्राम का परिणाम है।

५ सितम्बर, १९५४

*

भगवान् की ओर रास्ता : हमेशा लम्बा, प्रायः देखने में शुष्क परन्तु परिणाम में हमेशा प्रचुर।

*

आरोहण : एक-एक चरण करके व्यक्ति परम चेतना की ओर उठता है।

*

आध्यात्मिक आरोहण : निर्भय, नियमित, निरंतर।

*

तुम उतनी अवस्थाओं में से होकर गुजरोगे जितनी जरूरी हैं लेकिन तुम पहुंच जाओगे।

*

पहले आती है बौद्धिक वृत्ति और अभ्यास थोड़ा-थोड़ा करके बाद में आता है। जो चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है वह है जिसे तुम सत्य समझते हो उसे जीने और वही होने के संकल्प को बहुत जाग्रत् बनाये रखना। तब रुकना असम्भव होगा और पीछे गिरना तो और भी असम्भव।

*

सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक नियति है और वह उनके दृढ़ निश्चय के अनुसार दूर या नजदीक होती है।

तुम्हें पूरी सचाई के साथ संकल्प करना चाहिये।

११ अप्रैल, १९६५

*

सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम अपना यंत्रवत् उपयोग करने देने के लिए किस शक्ति को चुनते हो। और यह चुनाव तुम्हें जीवन के हर क्षण करना होता है।

*

तुम्हारे अन्दर जो चीज साधारण जीवन से आसक्त है और जो भागवत जीवन के लिए अभीप्सा करती है, उन दोनों के बीच संघर्ष है। यह तुम्हें देखना है कि जो चीज तुम्हारे अन्दर प्रबल हो उसे चुनो और उसके अनुसार कार्य करो।

१९ सितम्बर, १९६७

*

तुम अनगिनत पुनर्जन्मों के फेरों में भटक सकते हो या तीव्र "साधना" के दुरारोह और द्रुत मार्ग को चुन सकते हो।

*

जो ऊंचाइयों तक ले जानेवाली खड़ी चढ़ाई के मार्ग का अनुसरण करता है वह आसानी से रसातल में जा सकता है।

*

शिखरों तक चढ़ना ही जिनकी नियति है उनके लिए जरा-सा गलत कदम भी सांघातिक संकट हो सकता है।

*

पूर्ण पथ : हर एक के लिए वह पथ जो अधिक-से-अधिक तेजी से भगवान् के पास पहुंचाता है।

*

सब कुछ सोना, सोना और सोना ही था, सुनहरे प्रकाश की बौछार थी जो नीचे की ओर अबाध गति से बह रही थी और अपने साथ यह चेतना ला रही थी कि देवों का पथ सूर्यालोकित पथ है जिसमें कठिनाइयां अपनी वास्तविकता खो देती हैं।

ऐसा मार्ग हमारे आगे खुला है, अगर हम उसे अपनाने का चुनाव करें।

योग

साधक = ऐसा व्यक्ति जो योग साधना का अनुसरण करता है।

साधना = यौगिक अनुशासन।

योग = भगवान् के साथ ऐक्य (अर्थ विस्तार से : ऐसा पथ जो इस ऐक्य की ओर ले जाये।)

*

क्या आप कृपा करके मुझे समझायेंगी कि योग करने से आदमी भगवान् के निकट कैसे पहुंचता है? और योग का असली अर्थ क्या है? क्या यह केवल शारीरिक व्यायाम ही है या मन का भी योग होता है?

इसका आध्यात्मिक जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, धर्म के साथ भी नहीं। 'क' तुम्हें विस्तार से समझा देगा, लेकिन मैं तुम्हें बतला सकती हूं कि योग केवल मन की भगवान् के प्रति अभीप्सा नहीं है बल्कि मुख्य रूप से हृदय की चाह भी है।

६ नवम्बर, १९६३

*

समस्त संसार उत्तरोत्तर प्रगतिशील रूपान्तर की प्रक्रिया में है। अगर तुम 'योग'-साधना अपनाते हो तो तुम अपने अन्दर इस प्रक्रिया को तेज कर लेते हो।

*

'योग' और समस्त जीवन सम अनुपात में हैं।

*

सच्ची आध्यात्मिकता जीवन को रूपान्तरित कर देती है।

पूर्णयोग

जगत् के बारे में तीन धारणाएं

१. बुद्ध और शंकर के मत :

जगत् एक भ्रम है, वह अज्ञान के कारण, अज्ञान और दुःख का क्षेत्र है। करने लायक चीज बस यही है कि जितनी जल्दी हो सके इससे निकलकर 'आदि असत्' या 'अव्यक्त' में विलीन हो जाओ।

२. प्रचलित वेदान्त की धारणा :

जगत् तत्त्वतः भगवान् है क्योंकि 'भगवान्' सर्वव्यापी हैं। लेकिन उनकी बाहरी अभिव्यक्ति विकृत, अन्धकारमयी, अज्ञानमयी और भ्रष्ट है। एकमात्र करने लायक चीज है आन्तरिक भगवान् के प्रति सचेतन होना और जगत् के बारे में परेशान हुए बिना उसी चेतना में स्थित रहना; क्योंकि यह बाहरी जगत् नहीं बदल सकता और हमेशा अपनी इसी स्वाभाविक अचेतना और अज्ञान की अवस्था में रहेगा।

३. श्रीअरविन्द की दृष्टि :

जगत् जैसा कि अभी है वह भागवत सृष्टि नहीं है जो उसे होना चाहिये, बल्कि उसकी अन्धकारमयी और विकृत अभिव्यक्ति है। वह भागवत चेतना और इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है, लेकिन वह है वही बनने के लिए; इसका सृजन इसीलिए हुआ है कि यह परम प्रभु के सभी रूपों और पहलुओं में—'प्रकाश', 'ज्ञान', 'शक्ति', 'प्रेम' और 'सौन्दर्य' में—'उनकी' पूर्ण अभिव्यक्ति में विकसित हो।

हमारी जगत् के बारे में यही धारणा है। हम इसी लक्ष्य का अनुसरण करते हैं।

२४ फरवरी, १९३६

*

प्रचलित साधनाओं का लक्ष्य होता है 'परम चेतना' (सच्चिदानन्द) के साथ एक होना। और जो वहां पहुंच जाते हैं वे स्वयं अपनी मुक्ति से

सन्तुष्ट हो जाते हैं और जगत् को इसकी दुर्दशा में छोड़ जाते हैं। इसके विपरीत, श्रीअरविन्द की साधना वहां से शुरू होती है जहां और सभी साधनाएं खतम होती हैं। एक बार परम प्रभु के साथ ऐक्य स्थापित हो जाने पर हमें उस सिद्धि को नीचे, इस बाहरी जगत् में उतारना होगा और पृथ्वी पर जीवन की अवस्थाओं को बदलना होगा, जबतक कि पूर्ण रूपान्तरण सिद्ध न हो जाये। इस लक्ष्य के अनुसार पूर्णयोग के साधक ध्यान और निदिध्यासन का जीवन बिताने के लिए इस जगत् को नहीं छोड़ते। हर एक को अपने समय का कम-से-कम एक तिहाई भाग उपयोगी कार्य में लगाना चाहिये। 'आश्रम' में सब प्रकार के क्रिया-कलाप के लिए स्थान है और हर एक ऐसा काम चुनता है जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो, लेकिन हर एक को हमेशा सर्वांगीण रूपान्तर के लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए सेवा और निस्वार्थ भाव से, कार्य करना चाहिये।

इस उद्देश्य को सम्भव बनाने के लिए, 'आश्रम' की व्यवस्था इस तरह हुई है कि यहां के सभी सदस्यों की उचित आवश्यकताएं पूरी हों, और उन्हें अपनी आजीविका के बारे में चिन्ता न करनी पड़े।

नियम बहुत कम हैं ताकि हर एक अपने विकास के लिए आवश्यक स्वाधीनता का रस ले सके, लेकिन कुछ चीजों की सख्त मनाही है—वे हैं : (१) राजनीति, (२) धूम्रपान, (३) मद्यपान और (४) लैंगिक उपभोग।

छोटे-बड़े, बूढ़े-जवान सभी का अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए, और शरीर की स्वाभाविक वृद्धि और कुशल-क्षेम के लिए बहुत सावधानी बरती जाती है।

२४ सितम्बर, १९५३

*

हम अब जो कर रहे हैं वह एक नयी चीज है; इसका अतीत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

*

हम इस जगत् में भगवान् की विजय चाहते हैं, इसकी सभी गतिविधियों पर विजय, और चाहते हैं यहां भगवान् की उपलब्धि।

*

इसे एक साहसकार्य कहा जा सकता है क्योंकि पहली बार किसी योग ने भौतिक जीवन से निकल भागने की जगह उसे रूपान्तरित करने और दिव्य बनाने का लक्ष्य अपनाया है।

*

प्रभु ने धरती पर 'अपने' कार्य के सम्पादित होने के लिए जो प्रेरणा भेजी है उसे हम यथासंभव पूर्ण रूप से भौतिक में चरितार्थ करना चाहते हैं।

और इसके लिए हर व्यष्टिगत अन्तरात्मा एक सहायक और सहयोगी है, लेकिन हर मानव अहं सीमा और बाधा भी है।

५ *अप्रैल*, १९६०

*

जो लोग पूर्णयोग की साधना करना चाहते हैं उन्हें दृढ़ता के साथ यह सलाह दी जाती है कि वे इन तीन चीजों से परहेज करें :

१) लैंगिक समागम

२) धूम्रपान

३) मदिरा पान

१२ जून, १९३५

*

मैं जितना आगे जाती हूं उतना ही ज्यादा यह जानती हूं कि कर्म के द्वारा ही श्रीअरविन्द का पूर्णयोग *सबसे अच्छी तरह किया जा सकता है*।

९ *अक्तूबर*, १९६६

*

पूर्णयोग में, तुम जो करते हो उसका नहीं, तुम जिस भाव से करते हो उसका महत्त्व है।

१९७१

यौगिक कर्म

From the standpoint of Yoga it is not so much what you do but how you do it that matters most.

योग के दृष्टिकोण से, तुम जो करते हो वह नहीं बल्कि तुम कैसे करते हो वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

*

कर्म का इतना अधिक महत्त्व नहीं है, महत्त्व है उस चेतना का जिससे कर्म किया जाता है। इसलिए सब ठीक है, अपने-आपको यातना न दो। मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है।

२४ मार्च, १९६४

*

आध्यात्मिक जीवन के दृष्टिकोण से तुम जो करते हो उसका सबसे अधिक महत्त्व नहीं है, महत्त्व है तुम जिस तरह करते हो उसका और उस चेतना का जो तुम उसमें लगाते हो। भगवान् को हमेशा याद रखो और तुम जो कुछ करोगे वह 'भागवत उपस्थिति' की अभिव्यक्ति होगा।

जब तुम्हारे सभी कर्म भगवान् को समर्पित होंगे तब ऐसे कोई कर्म न रहेंगे जो उच्च हों अथवा निम्न हों। सबका समान रूप से महत्त्व होगा— उन्हें समर्पण द्वारा दिया गया मूल्य।

*

तुम जो कुछ भी करो वह उपयोगी हो उठता है यदि तुम उसमें सत्य-चेतना की एक चिनगारी रख दो।

तुम जो कर्म करते हो उसकी अपेक्षा तुम्हारे अन्दर जो चेतना है वह बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। और अगर सत्य-चेतना द्वारा किये जायें तो सबसे अधिक निरर्थक दीखनेवाले कर्म भी बहुत सार्थक हो उठते हैं।

१० अगस्त, १९६६

*

कर्म अपने-आपमें नहीं बल्कि जिस भाव और चेतना से किये जाते हैं वही उसे यौगिक क्रिया बनाते हैं।

साधना के पहलू

दिव्य मां,

मैं निम्न बातों को जानना चाहता हूं :

(१) क्या मेरे अन्दर इस मार्ग के लिए क्षमता और सम्भावनाएं हैं?

यह कोई प्रश्न नहीं है, प्रश्न यह है कि क्या तुम्हारे अन्दर आवश्यक अभीप्सा, दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय है और क्या तुम अपनी अभीप्सा की तीव्रता और आग्रह के द्वारा अपनी सत्ता के समस्त अंगों को पुकार का उत्तर देने के लिए और समर्पण के लिए एक कर सकते हो?

(२) मैं घर लौटने के बाद अपनी साधना कैसे जारी रखूं?

अपने-आपको शान्त करो और शान्ति में मां को[१] देखो और अनुभव करो।

(३) मैं ध्यान कैसे कर सकता हूं? खुलने का मतलब क्या है? मैं कहां पर खुलूं?

आन्तरिक शुद्धि और ग्रहणशीलता जो मुक्त भाव से मां के प्रभाव को अन्दर आने दे। हृदय से आरम्भ करो।

(४) मैं सिर के ऊपर से उच्चतर जीवन के लिए अभीप्सा करता हूं लेकिन मुझे हमेशा माथे के बीच के भाग में भार-सा अनुभव होता है। मुझे क्या करना चाहिये?

अपने ऊपर अधिक भार न डालो।

[१] सम्भवतः माताजी ने ये उत्तर लिखवाये थे इसलिए इनमें बार-बार मां शब्द आता है।

(५) चैत्य पुरुष कैसे खुलता है? आधार में चैत्य और प्राणिक सत्ताओं को कैसे पहचाना जाये?

अभीप्सा की शक्ति और मां की कृपा से।

चैत्य : तुम्हारी सत्य सत्ता, वह सत्ता जो तुम्हारे हृदय में है, जो मां की अपनी चेतना की एक चिनगारी है।

प्राण : वह भाग जिससे कामनाएं और भूख और गतिशील क्रियाओं का आरम्भ होता है, जिसका भौतिक आधार नाभि के चारों ओर होता है।

(६) मेरे परिवार में इतने लोग हैं, स्वयं मैं, मेरी पत्नी, दो बेटे और एक बेटी। मेरी यहां आकर रहने की इच्छा है, लेकिन मेरी पत्नी को यह स्वीकार नहीं है। मुझे क्या करना चाहिये?

अनासक्ति।

(७) मेरी हार्दिक इच्छा है कि फिर से कम-से-कम तीन महीने यहां रहने के लिए आ सकूं। कृपया अनुमति दीजिये।

तुम जब आने के लिए तैयार हो तब सूचना देना। तभी अनुमति दी जा सकती है।

(८) अपने दैनन्दिन जीवन में मैं उदास हो जाता हूं और काम, क्रोध आदि निम्न शक्तियों का शिकार बन जाता हूं। मैं आपसे सहायता और संरक्षण के लिए विनम्र प्रार्थना करता हूं।

अनासक्ति।

(९) मेरी पत्नी अम्बाजी की भक्त है। उसका हृदय उनके आगे खुलता है लेकिन वह सांसारिक बन्धनों से पीछा नहीं छुड़ा सकती। कृपया उसकी सहायता करें। मैं उसका फोटो भेजूं?

तुम चाहो तो।

(१०) मैं आपको पत्र लिखने की अनुमति मांगता हूं।

तुम लिख सकते हो।

(११) मैं अपने दैनन्दिन कामों में क्या वृत्ति अपनाऊं? मैं अपने परिवार के सदस्यों, नातेदारों और मित्रों के साथ कैसे व्यवहार करूं?

अनासक्ति।

(१२) मैं अभी कौन-सी पुस्तकें पढ़ूं?

श्रीअरविन्द की पुस्तकें।

नवम्बर १९२८

*

माताजी की ओर कैसे खुला जाये? निम्नलिखित उपाय हैं :
(१) हमेशा या समय-समय पर 'आपको' याद करना—

अच्छा है

(२) 'आपका' नाम जपना—

सहायक है।

(३) ध्यान की सहायता से—

अगर ध्यान करने की आदत न हो तो ज्यादा कठिन है।

(४) उन लोगों के साथ आपके बारे में बातचीत करके जो 'आपका' मान करते और 'आपसे' प्रेम करते हैं—

खतरनाक है, क्योंकि बातचीत करते समय कुछ ऊटपटांग या कम-से-कम बेकार चीजें कही जा सकती हैं।

(५) 'आपकी' किताबें पढ़कर—

अच्छा है।

(६) 'आपके' बारे में विचार करने में समय लगाकर—

बहुत अच्छा।

(७) सच्ची निष्कपट प्रार्थना से—

अच्छा है।

*

आरम्भ करने के लिए तीन अनिवार्य चीजें :

समस्त सत्ता और उसके सारे क्रियाकलाप में सम्पूर्ण सचाई और निष्कपटता।

कुछ भी बचाये बिना पूर्ण आत्म-समर्पण।

अपने ऊपर धीरज के साथ काम करना और साथ ही पूर्ण, निष्कम्प शान्ति और समता को निरन्तर हस्तगत करते रहना।

४ फरवरी, १९३२

*

हमारी मानव चेतना में ऐसी खिड़कियां हैं जो 'अनन्त' में खुलती हैं लेकिन साधारणतः मनुष्य उन्हें सावधानी से बन्द किये रहते हैं। उन्हें पूरी तरह खोलना चाहिये और 'अनन्त' को मुक्त रूप से अपने अन्दर आने देना चाहिये ताकि वे हमारा रूपान्तर कर सकें।

खिड़कियां खोलने के लिए दो शर्तें जरूरी हैं :

१) तीव्र अभीप्सा।

२) अहंकार का उत्तरोत्तर विलय।

जो सचाई और निष्कपटता से काम में लगते हैं उन्हें भगवान् की सहायता का आश्वासन दिया जाता है।

*

'भगवान्' जो हम सबके अन्दर और सभी चीजों में हैं उन्हें पाने का अच्छे-से-अच्छा तरीका क्या है?

अभीप्सा।

नीरवता।

सौर चक्र के क्षेत्र में एकाग्रता।

जरूरत हो तो भगवान् से प्रार्थना :

मैं 'तुम्हारा' हूं। मैं 'तुम्हें' जानना चाहता हूं ताकि मैं जो कुछ भी करूं वह उसके सिवा कुछ न हो जो तुम मुझसे करवाना चाहते हो।

*

सिर्फ उसी चीज को प्रोत्साहित करो जो तेजी से 'प्रभु' की ओर ले जाती हो और भागवत प्रयोजन को पूरा करती हो।

परीक्षक

पूर्णयोग में ऐसी परीक्षाओं की एक अविच्छिन्न श्रृंखला होती है जिनमें से तुम्हें पूर्व चेतावनी के बिना गुजरना पड़ता है और इस तरह तुम्हें हमेशा सावधान और चौकन्ना रहना पड़ता है।

परीक्षकों के तीन दल ये परीक्षाएं लेते हैं। ऐसा लगता है कि उनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, उनके तरीके बहुत भिन्न होते हैं। कभी-कभी तो देखने में इतने परस्पर-विरोधी मालूम होते हैं कि ऐसा लगता है कि यह संभव ही नहीं कि वे एक ही लक्ष्य की ओर ले जा रहे हों। फिर भी वे एक-दूसरे के पूरक होते हैं, एक ही उद्देश्य के लिए काम करते हैं और परिणाम की पूर्णता के लिए सभी अनिवार्य हैं।

तीन प्रकार की परीक्षाएं ये हैं : प्राकृतिक शक्तियों द्वारा नियुक्त, आध्यात्मिक और दिव्य शक्तियों द्वारा नियुक्त और विरोधी शक्तियों द्वारा नियुक्त। इनमें अन्तिम प्रकार की देखने में सबसे ज्यादा भ्रामक होती हैं और इनसे अनजाने में, बिना तैयारी पकड़े जाने से बचने के लिए एक सतत सावधानी, सचाई

और विनम्रता की अवस्था जरूरी होती है।

बिलकुल ही मामूली परिस्थितियां, दैनिक जीवन की घटनाएं, देखने में अधिक-से-अधिक नगण्य लोग या चीजें, ये सब इनमें से किसी-न-किसी परीक्षक दल के होते हैं। परीक्षाओं के विशाल और जटिल संगठन में वे घटनाएं जो जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं सबसे सरल परीक्षाएं होती हैं, क्योंकि उनके लिए तुम तैयार और सावधान होते हो। रास्ते के छोटे-छोटे पत्थरों पर ठोकर खाना ज्यादा आसान होता है, क्योंकि वे ध्यान नहीं खींचते।

सहनशीलता और नमनीयता, प्रसन्नता और निर्भीकता ऐसे गुण हैं जिनकी भौतिक प्रकृति की परीक्षाओं में खास जरूरत होती है।

आध्यात्मिक परीक्षाओं के लिए अभीप्सा, विश्वास, आदर्शवाद, उत्साह और उदारतापूर्ण आत्मोत्सर्ग आवश्यक हैं।

और विरोधी शक्तियों की परीक्षाओं के लिए जागरूकता, सचाई, और विनम्रता की खास जरूरत होती है।

और यह कल्पना न करो कि एक ओर वे हैं जिन्हें परीक्षा देनी होती है और दूसरी ओर वे जो परीक्षा लेते हैं। परिस्थितियों और समय के अनुसार हम सभी परीक्षक और परीक्षार्थी दोनों होते हैं और यह भी हो सकता है कि तुम एक ही साथ परीक्षक और परीक्षार्थी दोनों होओ। और इससे जो लाभ होता है वह परिमाण और गुण दोनों में, तुम्हारी अभीप्सा की तीव्रता और चेतना की जागृति पर निर्भर होता है।

और अन्त में एक आखिरी सलाह : अपने-आपको परीक्षक के रूप में कभी न रखो। जब कि यह निरंतर याद रखना अच्छा है कि शायद हम किसी महत्त्वपूर्ण परीक्षा में से गुजर रहे हों, यह कल्पना करना बहुत अधिक खतरनाक है कि तुम औरों की परीक्षा लेने के लिए जिम्मेदार हो। यह अत्यधिक हास्यास्पद और हानिकर प्रकार के दम्भ के लिए खुला दरवाजा है। 'परम प्रज्ञा' इन चीजों का निर्णय करती है, अज्ञानमयी मानवीय इच्छा नहीं।

१२ नवम्बर, १९५७

*

तुम्हें जब-जब प्रगति करनी होती है तब-तब तुम्हें परीक्षा देनी होती है।

१२ नवम्बर, १९५७

*

प्राचीन काल में शिष्य को दीक्षा के लिए अपनी योग्यता प्रमाणित करने के लिए कड़ी परीक्षाएं देनी पड़ती थीं। हम यहां उस तरीके का अनुसरण नहीं करते। प्रकट रूप से कोई परीक्षा या कसौटी नहीं होती लेकिन अगर तुम सच्ची बात देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि यहां की परीक्षा बहुत ज्यादा कठिन है। वहां शिष्य जानता था कि वह परीक्षा-काल में से गुजर रहा है और उसे उत्तीर्ण हो जाने पर प्रवेश मिल जाता था। लेकिन यहां तुम्हें जीवन का सामना करना पड़ता है और पग-पग पर तुम पर निगरानी रखी जाती है। केवल तुम्हारी बाह्य-क्रियाओं की ही गिनती नहीं होती। हर एक विचार और आन्तरिक क्रिया को देखा जाता है, हर प्रतिक्रिया की ओर ध्यान दिया जाता है। तुम वन में एकांत में जो करते हो उसका नहीं, जीवन-संग्राम में जो करते हो उसका महत्त्व है।

क्या तुम ऐसी परीक्षाओं के लिए अपने-आपको प्रस्तुत करने को तैयार हो? क्या तुम अपने-आपको पूरी तरह बदलने के लिए तैयार हो? तुम्हें अपने विचार, आदर्श, मूल्य, रुचियों और मतों को फेंक देना होगा। हर चीज नये सिरे से सीखनी होगी। अगर तुम इन सबके लिए तैयार हो तो लगाओ डुबकी वरना पास फटकने की कोशिश मत करो।†

*

सारा जीवन ही साधना है। उसे टुकड़ों में काटना और यह कहना कि यह साधना है और वह नहीं, एक भूल है। तुम्हारा खाना और सोना भी साधना का अंग होना चाहिये।†

(किसी 'पश्चिम' की ओर लौटनेवाले के नाम)

हर चीज "साधना" का अंग हो सकती है, यह आन्तरिक वृत्ति पर निर्भर है।

स्वभावतः अगर तुम अपने ऊपर पाश्चात्य वातावरण का आक्रमण होने दो तो साधना को विदा।

लेकिन तुम अपनी अभीप्सा और 'भागवत जीवन' में श्रद्धा बनाये रखो तो अधिक से अधिक जड़ताभरे वातावरण में भी साधना जारी रह सकती है और रहनी चाहिये।

१९७०

तपस्या

किसी आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए संकल्प-शक्ति द्वारा आरोपित अनुशासन है तपस्या।

*

तपस्या : भगवान् की प्राप्ति के उद्देश्य को लक्ष्य बनानेवाला अनुशासन।

*

मानसिक तपस्या : लक्ष्य की ओर ले जानेवाली प्रक्रिया।

*

प्राणिक तपस्या : प्राण अपने-आपको रूपान्तरित करने के लिए कठोर अनुशासन का पालन करता है।

*

सर्वांगीण तपस्या : समस्त सत्ता केवल भगवान् को जानने और उनकी सेवा करने के लिए ही जीती है।

*

पूर्ण तपस्या : वह जो अपने लक्ष्य तक पहुंचेगी।

*

No life can be successful
without self-discipline

आत्म-अनुशासन के बिना कोई जीवन सफल नहीं हो सकता।

*

मनुष्य होने के लिए अनुशासन अनिवार्य है।

अनुशासन के बिना तुम केवल पशु होते हो।

तुम मनुष्य बनना तभी शुरू करते हो जब तुम उच्चतर और सत्यतर जीवन के लिए अभीप्सा करते हो और रूपान्तर के अनुशासन को स्वीकार करते हो। और इसके लिए तुम्हें अपनी निम्न प्रकृति और उसकी कामनाओं पर प्रभुत्व पाने से आरम्भ करना चाहिये।

९ मार्च, १९७२

*

यह कहा जा सकता है कि सभी प्रकार का अनुशासन, यदि उसका अनुसरण सख्ती से, सचाई से, और सोच-समझकर किया जाये तो काफी सहायता करता है, क्योंकि वह तुम्हें पार्थिव जीवन के लक्ष्य तक तेजी से ले जाता है और नूतन जीवन को ग्रहण करने के लिए तैयार करता है। अपने को अनुशासित करने का अर्थ है इस नूतन जीवन के आगमन और अतिमानसिक सद्वस्तु के साथ सम्पर्क को जल्दी लाना।

तपश्चर्याएं

सच्ची मनोवृत्ति न तो तपस्वी बनना है और न कामना में रस लेना है। सच्ची मनोवृत्ति है जो कुछ मैं दूं उसे पूरी सरलता के साथ लेना, उसके साथ पूरी तरह सन्तुष्ट रहना, न तो ज्यादा की मांग करना और न जो दिया गया है उसे अस्वीकार करना। देने लायक यही सच्चा उदाहरण है जो दूसरों को उनके साधक होने के कर्तव्यों को समझने में सहायता देगा।

मेरे बालक बने रहो, सरल, शान्त और सन्तुष्ट और सब कुछ ठीक होगा।

५ *अक्तूबर*, १९३४

*

जो संन्यासी मांगें करता है वह सच्चा और निष्कपट नहीं है। सच्चा होने के लिए संन्यासी को जो कुछ दिया जाये उससे पूरी तरह सन्तुष्ट रहना चाहिये और किसी चीज की मांग न करनी चाहिये। उसके साथ जो कुछ हो, उसमें उसे 'भागवत कृपा' देखनी चाहिये और उसके लिए प्रसन्न और साथ ही कृतज्ञ होना चाहिये।

और फिर जो "तीव्र साधना" करना चाहता है उसे अपने-आपको अपने परिवेश से अलग कर सकना चाहिये और अगर जरूरी हो तो युद्ध-क्षेत्र में, तोपों की गड़गड़ाहट के बीच भी गहरे ध्यान में बैठ सकना चाहिये।

*

मैं नहीं मानती कि गुफा की साधना आसान है—केवल, वहां कपट छिपा रहता है जब कि क्रियाकलाप और जीवन में वह प्रकट हो जाता है। तुम गुफा में योगी-से दीख सकते हो परन्तु जीवन में छल-कपट ज्यादा कठिन है क्योंकि तुम्हें योगी की तरह *व्यवहार करना* पड़ता है।

६ *सितम्बर*, १९३५

*

मैं जब इस तरह की कड़ी साधना की गंभीरता के बारे में सोचता हूं

तो मेरे मन और शरीर की दुर्बलता का भाव मुझे डराने लगता है और मैं अपने अन्दर साहस नहीं पाता।

हम एक बात जानना चाहते हैं कि तुम कितना खाते हो और नियमित रूप से एवं काफी सोते हो कि नहीं। ये दो बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इस प्रकार की साधना यह मांग करती है कि उसे सह सकने के लिए मन, शरीर और स्नायुमंडल को अल्पाहार या नींद की कमी के कारण दुर्बल न बनाया जाये।

१६ दिसम्बर, १९४०

*

उपवास के द्वारा नहीं बल्कि संकल्पबल को बढ़ाकर तुम 'सत्य' को पा सकते हो।

१८ जनवरी, १९५३

*

तुम कहते हो कि 'क' बच्चों के साथ "शरारत करता है" क्योंकि तुम सोचते हो कि साधना स्थिरता, अचंचलता और ध्यान है। लेकिन तुम यहां जितना अधिक रहोगे, उतना ही अधिक तुम्हें यह अनुभव करना होगा कि भागवत चेतना को केवल ध्यान द्वारा ही नहीं पाया जा सकता, तुम यह सीखोगे कि खेलते समय, जिम्नास्टिक्स करते हुए, टहलते हुए या और कुछ करते हुए भी 'भगवान्' के साथ सम्पर्क बनाये रख सकते हो। तुम्हें हर क्षण 'भगवान्' को याद रखना और 'भागवत चेतना' में रहने का प्रयास करना चाहिये।

३१ अगस्त, १९५३

*

यहां समझदारी अनिवार्य है और पूर्णयोग सन्तुलन, स्थिरता और शान्ति पर आधारित है, पीड़ा सहने की अस्वस्थ आवश्यकता पर नहीं।

१२ मई, १९६९

*

जब तक साधना तपश्चर्या है तब तक प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं। जब यह एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है, तब अच्छा रहता है।

*

(एकान्तवास के बारे में)

अगर यह सच्ची आवश्यकता है तो इसके साधन भी सहज रूप से जुट जायेंगे।

३० मार्च, १९७०

*

क्या मैं कुछ समय एकान्तवास में रहूं?

योग की पुरानी पद्धतियां मौन और एकान्तवास की मांग करती हैं।

आगामी कल का योग कार्य करते हुए और संसार के साथ सम्बन्ध रखते हुए भगवान् को पाने में है।

अपने अन्दर देखो, उस पर मनन करो और मुझे बतलाओ कि तुम क्या चुनते हो।

२४ जनवरी, १९७१)

*

मेरे अनुभव के अनुसार तो जब लोग एकान्तवास करते हैं तो तमस् में जा गिरते हैं।

अक्तूबर, १९७१

*

बहुत ज्यादा अपने अन्दर रहने के लिए आन्तरिक जीवन की विशेष शक्ति की जरूरत होती है। ज्यादा अच्छा हो कि एकान्तवास को उसके किसी तरह के विरोधी रूप के साथ बदलते रहो। लेकिन इसके लाभ भी हैं और हानियां भी। केवल जागरूक रहने और आन्तरिक समस्थिति को

बनाये रखने से तुम हानि से बच सकते हो।

*

पूर्ण शारीरिक निवृत्ति कभी-कदास ही लाभप्रद हो सकती है, यद्यपि अस्थायी निवृत्ति प्रायः सहायक होती है। लेकिन मुख्य चीज है आन्तरिक अनासक्ति और पूरी तरह भगवान् की ओर मुड़ना।

एकाग्रता

जो हलचल संचित करती और एकाग्र करती है वह फैलाने और बिखेरनेवाली हलचल से कम आवश्यक नहीं है।

१३ अप्रैल, १९३५

*

एकाग्रता किसी प्रभाव को लक्ष्य नहीं बनाती, वह सरल और चिरजीवी होती है।

*

किसी यथार्थ लक्ष्य पर एकाग्रता विकास में सहायक होती है।

*

हम लक्ष्य पर जितने अधिक एकाग्र होंगे, वह उतना ही अधिक खिलेगा और सुव्यक्त होगा।

*

योगी अपनी धारण करने की क्षमता द्वारा या वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियों के साथ सक्रिय तादात्म्य द्वारा जानता है।

११ अप्रैल, १९३५

*

"ज्ञान केवल सचेतन तादात्म्य द्वारा आ सकता है क्योंकि वही सच्चा ज्ञान है—अपने आपसे अभिज्ञ सत्ता" —श्रीअरविन्द

आसपास की चीजों और लोगों के साथ हमेशा एक प्रकार का *अचेतन तादात्म्य* रहता है; लेकिन इच्छाशक्ति और अभ्यास द्वारा तुम किसी व्यक्ति या किसी चीज पर एकाग्र होना सीख सकते हो और अपने-आपको सचेतन रूप से उस व्यक्ति या चीज के साथ अभिन्न कर सकते हो और इस

तादात्म्य द्वारा उस व्यक्ति या वस्तु की प्रकृति को जान सकते हो।

२० मई, १९५५

*

जो सावधान हो उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

*

कहा जाता है कि सभी सफल गतिविधियों के मूल स्रोत में होती है दत्तचित्त सावधानी की क्षमता। वास्तव में मनुष्य की क्षमता और उसका मूल्य एकाग्रतापूर्ण मनोयोग से आंका जा सकता है।[१]

इस एकाग्रता को प्राप्त करने के लिए साधारणतः यह उपाय बताया जाता है कि आदमी अपना क्रियाकलाप कम कर ले, कोई चुनाव कर ले और उस चुनाव तक ही सीमित रहे ताकि वह अपनी ऊर्जा, अपने मनोयोग को बिखेर न दे। सामान्य मनुष्य के लिए यह उपाय अच्छा है, कभी-कभी अनिवार्य भी होता है। लेकिन तुम इससे ज्यादा अच्छी चीज की कल्पना कर सकते हो।

*

कभी मैं मन को नीरव करने की कोशिश करता हूं, कभी समर्पण करने की कोशिश करता हूं और कभी अपने चैत्य को खोजने की कोशिश करता हूं। इस तरह मैं अपने ध्यान को किसी एक चीज पर केन्द्रित नहीं कर सकता। मुझे पहले किसके लिए कोशिश करनी चाहिये?

सभी करना चाहिये, और हर चीज तब जब वह सहज रूप से आये।

(१६ अक्तूबर, १९६४)

[१] माताजी की टिप्पणी—साधारणतः यह विषय में रस होने और उसके लिए विशेष आकर्षण से आता है।

ध्यान

जब तुम ध्यान में बैठो तो तुम्हें बालक की तरह निष्कपट और सरल होना चाहिये। तुम्हारा बाह्य मन बाधा न दे, तुम किसी चीज की आशा न करो, किसी चीज के लिए आग्रह न करो। एक बार यह स्थिति आ जाये तो बाकी सब तुम्हारी गहराइयों में स्थित अभीप्सा पर निर्भर है। और अगर तुम भगवान् को बुलाओ तो उनका उत्तर भी मिलेगा।

२६ जनवरी, १९३५

*

हर ध्यान को एक नया अन्तःप्रकाश होना चाहिये क्योंकि हर ध्यान में कुछ नया घटता है।

*

अगर तुम ध्यान में प्रकट रूप से प्रगति नहीं भी कर रहे, तो भी लगे रहना और अपनी निम्न प्रकृति के विरोध से ज्यादा हठी होना अच्छा है।

*

माताजी,

मैं आपसे यह जानना चाहूंगा कि मैं अभी ध्यान के लिए जितना समय देता हूं, उससे ज्यादा समय देना मेरे लिए अच्छा है क्या? मैं सवेरे शाम मिलाकर दो घंटे लगाता हूं लेकिन मैं अभी तक ध्यान में काफी सफल नहीं हूं। मेरा भौतिक मन मुझे काफी तंग करता है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि वह शान्त हो जाये और मेरी चैत्य सत्ता बाहर आ जाये। मन को पागल यन्त्र की तरह काम करते और हृदय को पत्थर की तरह सोते देखना कितना कष्टकर है। माताजी, वर दीजिये कि मैं अपने हृदय में आपकी उपस्थिति को हमेशा अनुभव कर सकूं।

ध्यान के समय को बढ़ाना बहुत उपयोगी नहीं होता जब तक कि ध्यान की प्रेरणा मन के मनमाने फैसले से नहीं बल्कि सहज रूप से अन्दर से न आये।

मेरी सहायता, प्रेम और आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

१७ अक्तूबर, १९३९

*

ध्यान के लिए निश्चित घण्टे रखने की अपेक्षा हमेशा एकाग्र और अन्तर्मुखी वृत्ति रखना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

*

जब आप हमें ध्यान के लिए कोई विषय देती हैं तो हमें उसके बारे में क्या करना चाहिये? उसके बारे में सोचा करें?

अपने विचार को एकाग्र रूप से उस पर केन्द्रित रखो।

और जब कोई विषय न दिया जाये तो क्या इतना काफी है कि हृदय केन्द्र में आपकी 'उपस्थिति' पर एकाग्र हों? क्या हमें किसी सूत्रबद्ध प्रार्थना से बचना चाहिये?

हां, दिव्य उपस्थिति पर एकाग्र होना काफी है।

*

(ध्यान के लिए विषयों के उदाहरण)

नूतन जन्म। नयी चेतना में जन्म। चैत्य चेतना।

५ जुलाई, १९५७

शरीर में भगवान् के प्रति अभीप्सा कैसे जगायी जाये।

२६ जुलाई, १९५७

अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर मोड़ना। अपने अन्दर देखना।

२ अगस्त, १९५७

असंयत वाणी के दुष्प्रभाव।

९ अगस्त, १९५७

अनुभूतियां और अन्तर्दर्शन

आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ है अपने अन्दर के भगवान् के साथ सम्पर्क (या बाहर, जो उस क्षेत्र में एक ही बात है)। और यह हर जगह, सभी देशों में, सभी जातियों और सभी युगों में एक-सी अनुभूति होती है।

१८ फरवरी, १९३५

*

तुम्हें हमेशा अपनी अनुभूतियों से अधिक बड़ा होना चाहिये।

*

इस प्रकार की अनुभूति के वश में होने की अपेक्षा उसे अपने वश में रखना हमेशा अच्छा होता है। मेरा मतलब है कि अनुभूति अपने-आप में अच्छी और उपयोगी है, उसे अपनी पसन्द के समय न आकर ऐसे समय आना चाहिये जब हम चाहें। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसी अनुभूतियों को तब आने देना ज्यादा अच्छा है जब तुम चुपचाप घर पर हो या जब ध्यान का समय हो। जब तुम काम में लगे हो तो हमेशा यह ज्यादा अच्छा होता है कि तुम अपने शरीर और उसकी क्रियाओं के बारे में पूरी तरह सजग रहो।

*

प्रारम्भिक भूल तो यह थी कि तुमने उसी अनुभूति को फिर से पाना चाहा जो तुम्हें जवानी में हुई थी।

जीवन में अनुभूतियां हूबहू नहीं दुहरायी जातीं और अगर वे ज्यादा अच्छी यानी अधिक ऊंची और अधिक सच्ची न हों तो निश्चित रूप से ज्यादा खराब हो जाती हैं।

किसी अच्छी और अनुकूल अनुभूति के बाद मानव से भगवान् की ओर उठना जरूरी है वरना नारकीय और पैशाचिक में जा गिरने का डर रहता है।

*

कुछ समय के लिए अमुक आन्तरिक अनुभूतियों का होना उपयोगी हो सकता है लेकिन इस वृत्ति को स्थायी रूप से न बनाये रखना चाहिये क्योंकि यह केवल आंशिक सत्य है और पूर्णयोग के समग्र सत्य से बहुत दूर है।

*

सच्चा अन्तःप्रकाशन है भगवान् का अन्तःप्रकाशन।

***

तुम जिस अचंचलता और प्रकाश के अवतरण का अनुभव कर रहे हो वह इस बात का चिह्न है कि तुम्हारे अन्दर साधना सचमुच शुरू हो गयी है। इससे पता चलता है कि अब तुम सचेतन रूप से 'दिव्य शक्ति' और उसके कार्य के प्रति खुले हो। सत्ता के अन्दर अचंचलता और प्रकाश का अवतरण योग की नींव का आरम्भ है। पहले इसका अनुभव मन और ऊपरी भाग में ही हो सकता है लेकिन बाद में वह नीचे की ओर बढ़ता है, यहां तक कि सभी चक्रों को छूता है और सारे शरीर में इसका अनुभव होता है। पहले यह केवल दो-एक क्षण के लिए आता है, बाद में ज्यादा लम्बे समय तक रहता है।

दूसरी अनुभूतियों से लगता है कि तुम्हारे अन्दर अन्तर्दर्शन की क्षमता खुल रही है। यह भी योग का एक भाग है। तुमने जो अग्नि देखी है वह शायद प्राणिक सत्ता में अभीप्सा की अग्नि हो। तुमने जो दूसरी चीजें देखी हैं वे इतनी निश्चित नहीं हैं कि उनका अर्थ किया जा सके।

अपनी प्रगति जारी रखो।

हमारे आशीर्वाद और रक्षण हमेशा तुम्हारे साथ हैं।[१]

११ मार्च, १९३१

*

कल रात कुछ समय के ध्यान के बाद जब मैं सोने ही वाला था तो

[१] यह पत्र यद्यपि माताजी का लिखा हुआ है पर शायद श्रीअरविन्द का लिखवाया हुआ हो।

हृदय से ऊपर का सारा शरीर किसी ऊर्जा से भर गया। मैंने और कुछ नहीं केवल निरीक्षण किया। यह कुछ क्षण ही रहा। मेरे साथ ऐसा दो-तीन बार हो चुका है और पिछली बार जब यह हुआ तो कुछ मिनटों तक रहा था। मैं जानना चाहूंगा कि यह क्या है। क्या यह कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति है? जब इस तरह का दबाव हो तो कौन-सी वृत्ति अपनाना सबसे अच्छा होगा?

सबसे अच्छी वृत्ति है—स्थिर और अचंचल रहना और अनुभूति को अपना मार्ग लेने देना, *उसके बारे में कुछ सोचे बिना* उसका अवलोकन करना।

आशीर्वाद।

४ जुलाई, १९३९

*

स्पन्दन-शक्ति के तीव्र अवतरण के फलस्वरूप मैंने विशेष रूप से छाती में एक प्रकार की पीड़ा का अनुभव किया है। मुझे ऐसा लगा कि शरीर उसे रोकना चाहता था।

तुम्हें पूर्ण अचंचलता रखनी चाहिये ताकि अनुभूति भयंकर रूप से विकृत और कष्टदायक न हो जाये।

'भागवत शक्ति' केवल शान्ति और अचंचलता में ही अपने-आपको प्रकट करती और कार्य करती है।

*

आप जानती हैं कि वर्षों से मुझे अपना भौतिक शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीर में अन्वेषणात्मक चक्कर लगाने की आदत है (इसके बाद साधक अपनी विभिन्न अनुभूतियों का वर्णन करता है)। मैं जानना चाहूंगा कि क्या मुझे शरीर छोड़ने का यह अभ्यास जारी रखना चाहिये। यह बहुत मोहक है परन्तु क्या यह आन्तरिक आध्यात्मिक चीजों की ओर चेतना को खुला रखने के लिए यौगिक विकास का अंग है?

इन अनुभूतियों को एकदम बन्द कर देना कहीं अच्छा है। ऐसा लगता है कि वे तुम्हें ऐसे स्तरों पर ले जाती हैं जो अवांछनीय और बहुत असुरक्षित हैं। वे योग के किसी उद्घाटन के लिए जरूरी नहीं हैं।

२८ मार्च, १९४४

*

(साधक ने फिर से अपनी एक अनुभूति का जिक्र करते हुए यह भय प्रकट किया कि वह पूरी तरह से माताजी और श्रीअरविन्द की ओर खुलने से पहले मर न जाये और इस विषय में एक अनुभूति का उल्लेख किया जिसमें पूर्ण आत्मोत्सर्ग की क्रिया चलती रही।)

निश्चय ही मैंने तुम्हें भुला नहीं दिया है। बिलकुल नहीं। अगर तुम अपना मन पक्का कर लो तो तुम सिद्धि पाने के योग्य जरूर हो और तुमने जो अनुभूति सुनायी है वह मुझे इस बात की काफी पक्की प्रतिज्ञा लगती है कि वह आयेगी।

मैंने अपने पिछले पत्र में जो लिखा था उसका मतलब बस यही था कि ऐसी चीजें हैं जो तुम्हारी आध्यात्मिक उपलब्धि में देर करवा सकती हैं या फिर तुम्हारे लिए खतरनाक हो सकती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उपलब्धि नहीं होगी।

(१९ मई, १९४४)

*

जिस अनुभूति का तुम वर्णन कर रहे हो वह तुम्हें तब हुई थी जब शक्ति मुख्य रूप से मन, प्राण और उसके द्वारा भौतिक में काम कर रही थी। इस समय को बीते एक लम्बा अरसा हो चुका। शक्ति अपनी क्रिया में और अधिक नीचे आ चुकी है और अब केवल जड़ में ही नहीं, अवचेतन और निश्चेतन में भी कार्यरत है। जब तक तुम इस उतरती हुई गति का अनुसरण न करो और इस शक्ति को अपने शरीर और चेतना के जड़-भौतिक क्षेत्रों में कार्य न करने दो, तब तक तुम अपने-आपको आगे बढ़ सकने के अयोग्य, रास्ते के किनारे असहाय खड़ा पाओगे। और उस शक्ति

को कार्य करने देने के लिए सभी गतिविधियों, आदतों, रुचियों, पसन्दों, आवश्यकताओं के भाव आदि के विस्तृत समर्पण की बहुत अधिक आवश्यकता है।

बुलेटिन में श्रीअरविन्द का लेख[१] ध्यान से पढ़ो, वह समझने में तुम्हारी सहायता करेगा।

२० नवम्बर, १९४९

*

कभी-कभी जब मैं ध्यान करता हूं तो ऐसा लगता है कि शरीर गायब हो गया है। मुझे किसी तरह का भौतिक संवेदन नहीं होता लेकिन साथ ही मैं अपने चारों ओर की सभी चीजों के बारे में सचेतन होता हूं। मेरी चेतना मेरे सिर में एक विचार के रूप में रह जाती है। कभी-कभी मेरे मन में एक भी विचार नहीं होता, उसमें विचार आते तो हैं लेकिन वे किसी प्रकार का घपला पैदा किये बिना निकल जाते हैं। यह अवस्था आराम की तरह सुखकर होती है। माताजी, यह ठीक-ठीक क्या अवस्था है?

यह अपने-आपको बाहरी चेतना से, पुरुष—भौतिक में साक्षी पुरुष—की ओर खींच लेना है। निश्चय ही, वहां बहुत विश्राम मिलता है।

*

एक रात मुझे स्वप्न-अनुभूति हुई, जाग्रत् अन्तर्दर्शन कह सकते हैं इसे। मैंने दो सत्ताएं देखीं लेकिन मैं उनके चेहरे न देख पाया। दो लम्बे और मजबूत काठीवाले व्यक्ति। ऐसा लगता था कि वे भारी मखमली कोट पहने हैं (लेकिन बाद में मुझे लगा कि वे शायद अपनी पीठ पर भारी वनस्पतियों का भार ढो रहे थे जिसमें से कभी-कभी प्रकाश निकलता था); वे मेरे नजदीक आये और मेरी ओर ताकने लगे। मुझे डर न लगा। मैंने उनसे कहा, "अगर तुम माताजी

[१] "दिव्य शरीर", अब सेंटेनरी वाल्यूम १६ में प्रकाशित।

के पास से आये हो तो जो चाहो करो, अन्यथा तुम्हारे साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम चाहे कोई क्यों न हो। मैं दृढ़ता के साथ तुम्हारे प्रभाव से अलग होता हूं और तुम मेरा एक बाल भी न छू सकोगे।" साथ ही मैंने चुपचाप आपका नाम लेना शुरू कर दिया और अन्तर्मुख हो गया। लेकिन फिर भी उनके क्रियाकलाप पर नजर टिकाये रहा। उन्होंने कुछ देर एक-दूसरे से बातचीत की। मेरा ख्याल है कि वे मेरी बात पर मुस्कुराये। फिर उन्होंने अपनी पीठ पर से कोई चीज खींची जो चमकते प्रकाश-सी दिखायी दी। मैं ज्यादा विस्तार में स्पष्ट न देख पाया। फिर वे धीरे-धीरे कमरे से बाहर हो गये और मैं पूरी तरह जाग गया।

मैं यह जानने के लिए उत्सुक हूं कि वे कौन थे जो घोड़े पर सवार जुड़वां भाई से लगते थे। ऐसी अवस्था में कैसी वृत्ति अपनानी चाहिये? यह तो स्पष्ट है कि भय न होना चाहिये परन्तु क्या कोई विशेष उपाय है जिससे किसी प्रकार का गुह्य कौशल विकसित किया जा सके जो मूर्त शक्ति या सत्ता की सच्ची प्रकृति को पहचान सके?

तुम्हारी मनोवृत्ति बिलकुल ठीक थी और ऐसी अवस्थाओं के लिए यही सबसे अच्छी है।

वे, यमज घुड़सवार चिकित्सक अश्विनी कुमार हो सकते हैं।

१८ फरवरी, १९५२

*

अगर मैं किसी ज्वाला के सामने ध्यान करते हुए यह सोचूं कि वह भगवान् है और वे मेरे अन्दर हैं, अगर मैं यह अनुभव करूं कि ज्वाला और मैं एक ही चीज, भगवान् हैं और अगर मैं हमेशा, हर चीज के लिए ऐसा अनुभव करूं तो क्या यह वही चीज होगी जिसे आप "अन्दर निवास करना" कहती हैं?

निःसंशय रूप से हां, यह चैत्य गहराइयों की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

१९६९

*

तुम्हारा अवलोकन बहुत कच्चा है। "अन्दर से" आनेवाले सुझावों और आवाजों के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। तुम्हारे "अन्दर" का मतलब कुछ भी हो सकता है। तुम्हें अपने अवलोकन को प्रशिक्षित करना चाहिये और जिन स्रोतों से सुझाव आते हैं उन्हें अलग-अलग पहचानने की कोशिश करनी चाहिये। आवाज या सुझाव तुम्हारी अपनी अवचेतना से आ सकते हैं या किसी ज्यादा ऊंची चीज से। अगर तुम जान सको कि यह कहां से आ रहा है तब तुम फैसला कर सकते हो कि उसका अनुसरण किया जाये या नहीं।†

गुरु

हमारे युग में सफलता और उससे मिलने वाली भौतिक तुष्टि का ही मूल्य है। फिर भी असन्तुष्ट लोगों की हमेशा बढ़ती हुई संख्या जीवन का हेतु जानना चाहती है। और, दूसरी ओर, ऐसे सन्त हैं जो जानते हैं और पीड़ित मानवजाति की सहायता करने के लिए यत्नशील हैं और ज्ञान के प्रकाश को फैलाना चाहते हैं। जब ये दोनों—जाननेवाला और जिज्ञासु—मिलते हैं तो जगत् में एक नयी आशा उत्पन्न होती है और फैले हुए अन्धकार में थोड़े-से प्रकाश का प्रवेश होता है। हेमां

*

पाश्चात्य मानस को हमेशा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण करना कठिन लगता है तथा गुरु के प्रति बिना ननुनच के पूर्ण समर्पण के बिना तुम्हारे लिए उनकी सहायता पंगु हो जाती है। इसीलिए मैं प्राय: पाश्चात्य लोगों को यह सलाह देती हूं कि वे अपने अन्दर पथ-प्रदर्शन और भागवत उपस्थिति को खोजें। यह सच है कि इस पद्धति में बहुधा अनिश्चितता और आत्म-वंचना का, अहंकार की किसी आवाज को भगवान् का पथ-प्रदर्शन मान लेने का भय रहता है।

दोनों हालतों में सम्पूर्ण सचाई और शुद्ध अमिश्रित नम्रता ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है। मेरे आशीर्वाद सहित।

२१ जनवरी, १९५५

*

अगर तुम्हारे अन्दर श्रद्धा और विश्वास है, तो तुम गुरु के मानव रूप की पूजा नहीं करते बल्कि उन परम प्रभु को पूजते हो जो उनके द्वारा प्रकट होते हैं।

परेशान मत होओ और जिस रास्ते से तुम्हें सहायता मिले उससे अपने-आपको पूरी तरह परम प्रभु को दे दो।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

*

मुझे 'क' की मान्यताएं बिलकुल स्वीकार नहीं हैं। मुझे लगता है कि यह वही पुराना मानव 'पशु' है जो अपनी कामनाओं को मानसिक रूप देकर सन्तुष्ट करने की कोशिश में है।

सामान्यतः जब कोई आदमी अपने किसी विशेष कार्य के आधार पर यौगिक सिद्धान्त गढ़ने लगता है तो तुम्हें हमेशा सतर्क हो जाना चाहिये।

सभी काम यौगिक भाव से किया जा सकता है और किया जाना चाहिये परन्तु 'आहुति' *भगवान् के प्रति* होनी चाहिये, किसी मनुष्य के प्रति नहीं।

२३ जून, १९६०

*

हर एक से उसकी समझ की योग्यता के अनुसार बातें कही जाती हैं।

हो सकता है कि एक को दिया गया ज्ञान दूसरे के लिए उपयोगी या अच्छा न हो। यही कारण है कि गुरु की व्यक्तिगत शिक्षा औरों के आगे प्रकट नहीं करनी चाहिये।

*

शिष्य गुरु को देखकर रूपों का मूल्यांकन करते हैं, और लोग रूपों को देखकर गुरु का मूल्य आंकते हैं।

*

भारतवासी मानते हैं (या उन्हें इस बात का अनुभव है) कि भगवान् मनुष्यों में निवास करते हैं। यूरोपीय इस पर विश्वास नहीं करते। उनके लिए भगवान् कहीं ऊपर हैं। उन्होंने केवल ईसामसीह में जन्म लिया है। इसलिए वे किसी मानव व्यक्ति के आगे नहीं झुकते। लेकिन अगर कोई—निश्चय ही श्रद्धा के साथ—किसी ऐसे व्यक्ति के आगे झुकता है जिसने भागवत चेतना को मूर्त रूप दिया है, तो वह व्यक्ति, अपनी चेतना या अनुभूति औरों तक ज्यादा आसानी से संचारित कर सकता है।†

मार्च १९७३

सामान्य

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सुप्रसिद्ध या अज्ञात का कोई भी मूल्य नहीं है।

गम्भीरतापूर्वक योग करनेवाला एक आदमी एक हजार प्रसिद्ध लोगों से अधिक मूल्यवान् है।

१६ जनवरी, १९३५

*

जिनके अन्दर कोई सच्चा मूल्य है, योग उनके मूल्य को बढ़ा देगा, लेकिन जिसमें कला का मिथ्या आभास-मात्र है, वह आभास भी छिन जायेगा या अपना आकर्षण खो बैठेगा।

*

भगवती मां,
क्या आप चाहती हैं कि हम अमरीका में योग को जोर-शोर से फैलाने का यत्न करें?

योग किन्हीं बाह्य प्रचारों से नहीं फैलाया जा सकता।

३० मई, १९६६

*

जब मैं अकेला होता हूं तो मेरे अन्दर एकाकीपन का भाव जागता है। क्या मैं इसमें आपकी सहायता मांग सकता हूं?

जो संसार में एकाकी अनुभव करते हैं वे भगवान् के साथ एक होने के लिए तैयार हैं।

६ जुलाई, १९६६

भाग ३

योग के तत्त्व

सचाई

सचाई भगवान् के दरवाजों की चाबी है।

*

सच्चे बनो।

सचाई 'देवत्व' तक जाने का दरवाजा है।

*

सचाई का अर्थ है सत्ता की सभी गतिविधियों को अभी तक प्राप्त उच्चतम चेतना और उपलब्धि तक उठाना।

सचाई समस्त सत्ता के सभी भागों और क्रियाकलापों को केन्द्रीय 'भागवत इच्छा' के चारों ओर एक और समस्वर करने की मांग करती है।

२१ फरवरी, १९३०

*

सच्चा होने के लिए सत्ता के सभी भागों को भगवान् के लिए अपनी अभीप्सा में एक होना चाहिये—यह नहीं कि एक भाग तो चाहे और दूसरे भाग इन्कार करें या विद्रोह कर दें। अभीप्सा में सच्चा होने का अर्थ है भगवान् को भगवान् के लिए चाहना; नाम, ख्याति, प्रतिष्ठा और शक्ति या दर्प की किसी तुष्टि के लिए नहीं।

*

भागवत कार्य के लिए अपने उत्सर्ग में पूरी तरह *सच्चे* बनो। यह तुम्हारे बल और तुम्हारी सफलता को आश्वासन देगा।

*

भगवान् के प्रति अपने समर्पण में सच्चे और सम्पूर्ण बनो तो तुम्हारा जीवन सामञ्जस्यपूर्ण और सुन्दर बन जायेगा।

*

डरो मत, तुम्हारी सचाई तुम्हारी सुरक्षा है।

२२ नवम्बर, १९३४

*

अगर तुम गम्भीरता के साथ भगवान् से कहो "मैं केवल तुझे ही चाहता हूं" तो भगवान् परिस्थितियों को इस तरह संजो देंगे कि तुम सच्चे बनने के लिए बाधित होगे।

८ जून, १९५४

*

सरल सचाई : समस्त प्रगति का आरम्भ।

*

अपने आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए *सच्चे* बनो, यानी उसे ही अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाओ।

३ जून, १९५८

*

आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए अटल सचाई और निष्कपटता ही सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।

स्वांग मत करो, बनो।

वचन मत दो, करो।

सपने मत देखो, चरितार्थ करो।

*

पूरी तरह सच्चे बनो और कोई विजय तुम्हारे लिए दुर्लभ न होगी।

*

सचाई में विजय की निश्चिति है।

सचाई! सचाई! कितनी मधुर है तुम्हारी उपस्थिति की पवित्रता!

*

भगवान् हमेशा उनके साथी होते हैं जो उत्साही और सच्चे हैं।

मार्च १९६२

*

एकमात्र मुक्ति पूर्ण सचाई और सत्यवादिता में है।

२५ मार्च, १९६३

*

आवश्यकता है पूर्ण सचाई की।

*

'सचाई' और 'निष्ठा' 'पथ' के दो रक्षक हैं।

२१ फरवरी, १९६५

*

हम सभी विपरीत मतों के बावजूद सच्चे होना चाहते हैं; सचाई हमारी सुरक्षा है।

१९ दिसम्बर, १९६७

*

मुझे किस चीज का सबसे अधिक विकास करना चाहिये? और किस चीज का सबसे अधिक परित्याग?

विकास—सचाई (यह भगवान् के रास्ते पर पूर्ण संलग्नता है।)

त्याग—पुरानी मानवीय आदतों के खिंचाव का।

२५ फरवरी, १९७०

कपट, आडम्बर, आत्म-वंचना

अपने सच्चे 'स्व' के प्रति पूरी तरह वफादार और सच्चे बनो।

भगवान् के प्रति अपने उत्सर्ग में किसी भी छल को अन्दर घुसने न दो।

१ जनवरी, १९३४

*

कपट विनाश के पथ की ओर ले जाता है।

*

तुम्हारी साधना में महत्त्वपूर्ण चीज है पग-पग पर सच्चाई। अगर वह हो तो भूलें सुधारी जा सकती हैं और उनका बहुत महत्त्व नहीं होता। अगर जरा भी कपट हो तो वह तुरन्त साधना को नीचे खींच लेता है। लेकिन यह सतत सचाई मौजूद है या नहीं या किसी बिन्दु पर पतन हो जाता है—यह एक ऐसी चीज है जिसे तुम्हें अपने अन्दर देखना सीखना होगा; अगर उसके लिए गम्भीर और स्थायी इच्छा हो, तो उसे देखने की शक्ति आ जायेगी। सचाई दूसरों को सन्तुष्ट करने पर बिलकुल निर्भर नहीं है—यह आन्तरिक मामला है और केवल ऐकान्तिक रूप से मेरे और तुम्हारे बीच की बात है।

१२ मई, १९३९

*

सच्चे बनो और आवश्यक हो तो मैं तुम्हारी भूलें हजार बार ठीक करने के लिए भी तैयार हूं।

*

जो सच्चे हैं, मैं उनकी सहायता कर सकती हूं और उन्हें आसानी से भगवान् के प्रति मोड़ सकती हूं। लेकिन जहां कपट हो वहां मैं बहुत कम ही कर सकती हूं।

*

मैं सचाई के साथ अनुभव करता हूं कि मैं और कुछ नहीं, केवल

'भगवान्' को चाहता हूं। लेकिन जब मेरा सम्पर्क दूसरों के साथ होता है, जब मैं ऐसी चीजों में व्यस्त रहता हूं जिनका कोई मूल्य नहीं, तो मैं स्वभावतः भगवान् को, अपने एकमात्र लक्ष्य को, भूल जाता हूं। क्या यह कपट है? अगर नहीं, तो इसका क्या अर्थ है?

हां, यह सत्ता का कपट है, जिसमें एक भाग भगवान् को चाहता है और दूसरा किसी और वस्तु को।

अज्ञान और मूर्खता के कारण सत्ता में सचाई का अभाव है। लेकिन, दृढ़ संकल्प और 'भागवत कृपा' में पूर्ण विश्वास द्वारा व्यक्ति इस कपट को दूर कर सकता है।

*

जब तक व्यक्ति के अन्दर आन्तरिक द्वन्द्व की सम्भावना रहती है, तो इसका यह अर्थ होता है कि उसमें अब भी कुछ कपट है।

*

कोई भी आन्तरिक द्वन्द्व सचाई के अभाव का चिह्न है।

*

केवल वही जो पहले से ही काफ़ी सच्चे हैं यह जानते हैं कि वे पूरी तरह सच्चे नहीं हैं।

१७ जून, १९५४

*

जब तुम्हें यह विश्वास हो कि तुमने पूर्ण सचाई पा ली है, तो निश्चय जानो कि तुम मिथ्यात्व में डूब गये हो।

*

यह सोचने का कोई फायदा नहीं कि हम बहुत सच्चे हैं। यह सोचना भी बेकार है कि हम सच्चे नहीं हैं। उपयोगी है सच्चे बनना।

*

सत्ता का हर विभाजन कपट है।

सबसे बड़ा कपट है अपने शरीर और अपनी सत्ता के सत्य के बीच एक खाई खोदना।

जब एक खाई तुम्हारी सच्ची सत्ता को तुम्हारी भौतिक सत्ता से अलग करती है तो 'प्रकृति' उसे तुरन्त सब प्रकार के विरोधी सुझावों से भर देती है। उनमें सबसे अधिक विकट है भय और सबसे अधिक घातक है सन्देह।

कहीं भी, किसी चीज को अपनी सत्ता के सत्य का निषेध न करने दो—यही निष्कपटता है।

७ जुलाई, १९५७

*

'शाश्वत चेतना' के सामने सचाई की एक बूंद का मूल्य पाखण्ड और ढोंग के सागर से बढ़कर है।

*

अगर मैं हूं तो मुझे दीखने की जरूरत नहीं है।

दीखने की अपेक्षा होना ज्यादा अच्छा है।

जब तुम हो तो दीखने की जरूरत नहीं।

*

अगर मेरी सचाई पूर्ण है तो मुझे अच्छा दीखने की जरूरत नहीं।

दीखने की अपेक्षा होना ज्यादा अच्छा है।

*

अपने प्रति ईमानदार रहो—(आत्म प्रवंचना नहीं)।

भगवान् के प्रति सच्चे रहो—(समर्पण में सौदेबाजी नहीं)।

मानवजाति के साथ सीधे रहो—(दिखावा और पाखण्ड नहीं)।

२५ जून १९६३

*

अधिकांश मनुष्यों में अपने-आपको धोखा देने की चिरकालिक आदत

है। वे अपने-आपको भिन्न-भिन्न सैकड़ों तरीकों से धोखा देते हैं जिनमें से हर एक दूसरे से अधिक धूर्ततापूर्ण चालाकी से भरा और सूक्ष्म होता है और इसमें दोनों मिले रहते हैं—पूरी सरलता और पूर्ण कपट।

*

जो कोई *सचाई* के साथ योग करता है उसमें निश्चित रूप से सभी *परिस्थितियों* का सामना करने की आवश्यक शक्ति और स्थिरता होगी।

लेकिन असंख्य हैं वे जो अपने-आपको धोखा देते हैं, यह मानते हैं कि वे योग कर रहे हैं लेकिन करते हैं आंशिक रूप में ही, फिर भी विरोधों से भरे रहते हैं।

२० अप्रैल, १९६६

*

मधुर मां, व्यक्ति योग कैसे करता है?

पूरी तरह सच्चे बनो, कभी दूसरों को छलने की कोशिश मत करो। और कोशिश करो कि अपने-आपको कभी धोखा न दो।

आशीर्वाद।

१७ फरवरी, १९६८

*

भगवान् को धोखा देने की कोशिश न करो।

*

महत्त्वपूर्ण बात है *अधिक से अधिक* सच्चा होना, हमेशा अधिक सच्चा होना जिससे तुम अपने-आपको अपनी अभीप्सा की पूर्णता में कभी धोखा न दो।

यह सचाई निश्चित रूप से 'भागवत कृपा' लाती है।

आशीर्वाद।

*

यह देखना आसान है कि भूलें सत्ता में सचाई के अभाव के कारण होती हैं—इससे निकलने का एकमात्र उपाय है सच्चा बनना। तुम्हें इस उद्देश्य के लिए संकल्प, शक्ति और ज्ञान दिये गये हैं।

९ मार्च, १९६८

*

स्वयं सच्चा बनने के लिए यह जरूरी नहीं है कि तुम औरों के सच्चा बनने का इन्तजार करो।

९ मार्च, १९६८

*

पूर्ण सचाई के सबसे बड़े शत्रु हैं अभिरुचियां (चाहे मानसिक हों या प्राणिक हों या भौतिक) और पहले से बनायी धारणाएं। इन बाधाओं पर विजय पानी चाहिये।

अभीप्सा

सच्ची अभीप्सा का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

ऐसी अभीप्सा जिसमें किसी पक्षपात भरे और अहंकारपूर्ण हिसाब-किताब का मिश्रण न हो।

१२ जनवरी, १९३४

*

'दिव्य प्रेम' सहज रूप से तुम्हारी अभीप्सा की सचाई को उत्तर देता है।

२० अक्तूबर, १९३४

*

अपनी पवित्र और ऋजु अभीप्सा को उस चरम चेतना की ओर छलांग लगाने दो जो समस्त हर्ष और परम आनन्द है।

*

आविर्भाव के आगमन में शीघ्रता और पूर्णता के लिए हमें अपनी समस्त सत्ता के साथ अभीप्सा करनी चाहिये।

२ फरवरी, १९३५

अभीप्सा की प्रार्थना

आओ, हम एक प्रार्थना के साथ सोयें और 'नयी और पूर्ण सृष्टि' की अभीप्सा के साथ जगें।

*

अभीप्सा की लगन : उसके अतृप्य उत्साह के लिए न कोई चीज बहुत

अधिक ऊंची है, न बहुत दूर।

*

अभीप्सा को अभिव्यक्त करने में कभी कोई हानि नहीं होती—इससे उसे शक्ति मिलती है।

*

अभीप्सा *हमेशा* अच्छी है, पर अगर कोई मांग उसमें मिला दी जाये तो निश्चित जानो कि वह कभी स्वीकृत न होगी।

*

अभीप्सा करते चलो और आवश्यक प्रगति होकर रहेगी।

७ अप्रैल, १९५४

*

हमें हर रोज सभी भूलों, सभी अन्धकारों, सभी अज्ञानों पर विजय पाने की अभीप्सा करनी चाहिये।

१५ अप्रैल, १९५४

*

हमें हमेशा अज्ञान से मुक्त होने और एक सच्ची श्रद्धा पाने के लिए अभीप्सा करनी चाहिये।

२९ अप्रैल, १९५४

*

सतत अभीप्सा सभी विकारों पर विजय पा लेती है।

२१ मई, १९५४

*

दिन-पर-दिन हमारी अभीप्सा बढ़ेगी और हमारी श्रद्धा तीव्र होगी।

२३ मई, १९५४

*

जब अभीप्सा जाग्रत् होती है तो प्रत्येक दिन हमें लक्ष्य के अधिक निकट लाता है।

१५ जुलाई, १९५४

*

हर एक केवल अपनी अभीप्सा की सचाई के लिए उत्तरदायी है।

१७ जुलाई, १९५४

*

हमारी अभीप्सा हमेशा एक रूप में उठती है, एकाग्र संकल्प उसे सहारा देता है।

१ नवम्बर, १९५४

*

सत्ता में सब कुछ मौन है, लेकिन नीरवता के वक्ष में वह दीपक जलता है जिसे कभी बुझाया नहीं जा सकता—वह उस तीव्र अभीप्सा की अग्नि है जो भगवान् को जानना और उन्हें सम्पूर्ण रूप से जीना चाहती है।

६ नवम्बर, १९५४

*

अभीप्सा की लौ इतनी सीधी और इतनी तीव्र होनी चाहिये कि कोई बाधा उसे क्षीण न कर सके।

७ नवम्बर, १९५४

*

शब्दों के परे, विचारों के ऊपर तीव्र अभीप्सा की ज्वाला को हमेशा निष्कंप और उज्ज्वल होकर जलते रहना चाहिये।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

५ मार्च, १९५५

*

Beyond words, above thoughts the flame of an intense aspiration must always burn, steady and bright.

My love and blessings are with you

5-3-55

हृदय की नीरवता में अभीप्सा की निष्कंप ज्वाला जलती है।

*

अग्नि को अनवरत जलने दो और शान्ति से निश्चित परिणाम की प्रतीक्षा करो।

*

अभीप्सा की ज्वाला : एक ऐसी ज्वाला जो प्रकाश देती है पर कभी जलाती नहीं।

*

पूर्ण और ऐकान्तिक अभीप्सा निश्चय ही भगवान् का उत्तर लायेगी।

३१ अगस्त, १९५७

*

(आश्रम के एक छात्रावास "होम ऑफ प्रोग्रेस" के लिए सन्देश)

अगर मनुष्य में अभीप्सा के बीज को सच्ची अध्यात्मिकता से सींचा जाये तो वह 'देवत्व' में पनपेगा।

२४ अप्रैल, १९६६

*

हमेशा की तरह मैं तुम्हें स्थिर और शान्त रहने के लिए कहूंगी।

हमारी एकमात्र अभीप्सा आध्यात्मिक प्रगति के लिए होनी चाहिये। केवल उसी के लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१२ दिसम्बर, १९६७

*

दृढ़ता के साथ अपनी अभीप्सा को बढ़ाओ। भगवान् के प्रति अपने उत्सर्ग को पूर्ण बनाने की चेष्टा करो और तुम्हारे लिए तुम्हारे जीवन की व्यवस्था कर दी जायेगी।

८ जून, १९६९

*

कोई सुझाव?

किसलिए?

साधना के लिए।

धीर अभीप्सा।

७ जून, १९७०

*

मुझे जो प्रगति करनी है उसमें असफल न होने के लिए मुझे क्या करना चाहिये?

सतत और पूर्ण अभीप्सा।

३ अगस्त, १९७०

*

मैं अधिक-से-अधिक श्रद्धा और स्थिरता कैसे पा सकता हूं, माताजी?

अभीप्सा और संकल्प द्वारा।

*

मानसिक अभीप्सा : इसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट, यथार्थ और बहुत विवेकपूर्ण होती है।

*

सच्ची अभीप्सा मन की नहीं बल्कि चैत्य की क्रिया है।

२२ मई, १९७१

*

चैत्य अभीप्सा : सतत, नियमित, व्यवस्थित, साथ-ही-साथ कोमल और धैर्यवान् भी होती है, सभी विरोधों का प्रतिरोध करती है और सभी कठिनाइयों को जीतती है।

*

आध्यात्मिक अभीप्सा तीर की तरह उठती है, वह न बाधाओं की परवाह करती है न फिसड्डियों की।

*

वर दे कि अभीप्सा का सूर्य अहंकार के बादलों को छितरा दे।

*

(एक सेमिनार के लिए सन्देश जिसकी व्यवस्था 'महाराष्ट्र श्रीअरविन्द जन्म-शताब्दी उत्सव कमेटी' ने की थी)

प्रगति के लिए अपनी अभीप्सा में सच्चे बनो।

प्रेम और आशीर्वाद।

१९७२

अभीप्सा, पुकारना और खींचना

अभीप्सा करना और सहायता के लिए पुकारना एकदम अनिवार्य है।

*

माताजी, तीव्र अभीप्सा और शक्ति को नीचे खींच लाने में क्या भेद है?

प्राण है जो नीचे खींचता है और चैत्य है जो अभीप्सा करता है।

२० फरवरी, १९७३

*

पुकारने और खींचने में निश्चित रूप से बहुत बड़ा अन्तर है—तुम हमेशा सहायता और अन्य चीजों के लिए पुकार सकते हो और तुम्हें करना भी चाहिये, बाकी सब—यानी उत्तर तुम्हारी आत्मसात् करने की योग्यता और ग्रहणशीलता की सामर्थ्य के अनुपात में मिलेगा। खींचना एक स्वार्थपूर्ण क्रिया है जो ऐसी शक्तियों को नीचे खींच सकती है जो तुम्हारे सामर्थ्य के अनुपात में न हों और इस तरह हानिप्रद हों।

श्रद्धा और भागवत कृपा

श्रद्धा

श्रद्धा है चैत्य में सहज ज्ञान।

*

श्रद्धा एक निश्चिति है जिसके लिए जरूरी नहीं है कि वह अनुभव और ज्ञान पर आधारित हो।

*

श्रद्धा—'भगवान्' में विश्वास और 'भागवत विजय' की अविचल निश्चिति।

*

अविचल श्रद्धा का होना अच्छा है—यह तुम्हारे पथ को ज्यादा आसान और छोटा बना देती है।

*

सच्ची श्रद्धा परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती।

*

आध्यात्मिक शक्ति में श्रद्धा को परिस्थितियों पर निर्भर *नहीं* होना चाहिये।

*

भौतिक प्रमाणों पर टिकी श्रद्धा, श्रद्धा नहीं होती—वह सौदेबाजी होती है।

*

श्रद्धा पहले, ज्ञान पीछे।

*

जिनमें श्रद्धा है वे पार हो जायेंगे।

*

श्रद्धा रखना और विजित होने का संकल्प होना अनिवार्य है।

२ मई, १९४९

*

श्रद्धा : तुम प्रज्ज्वलित होकर विजय पाती हो।

*

श्रद्धा सबसे घने अन्धकार के दिनों में सबसे अधिक निश्चित पथ-प्रदर्शक है।

१६ अगस्त, १९५४

*

हमारी सारी आशा अविचल श्रद्धा में निहित है।

३ सितम्बर, १९५४

*

रात हमेशा आश्वासनों से भरी होती है। हमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ उसका सामना करना चाहिये।

१८ अक्तूबर, १९५४

*

हर क्षण सारा अप्रत्याशित, अनपेक्षित, अज्ञात हमारे सामने रहता है—और हमारे साथ जो कुछ होता है वह अधिकतर हमारी श्रद्धा की पवित्रता और तीव्रता पर निर्भर है।

३ नवम्बर, १९५४

*

अगर हमारे अन्दर सचमुच जीती-जागती श्रद्धा और भगवान् की सर्वसमर्थ शक्ति के लिए निरपेक्ष निश्चिति हो तो 'उनकी' अभिव्यक्ति इतनी प्रत्यक्ष हो सकती है कि उसके द्वारा समस्त धरती रूपान्तरित हो जाये।

५ नवम्बर, १९५४

*

अपरिवर्तनशील श्रद्धा बनाये रखो। सत्य की विजय होगी।

१० नवम्बर, १९७१

*

भगवान् पर श्रद्धा रखो और अपने अन्दर गहरे जाओ। मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ है।

७ अप्रैल, १९७२

*

श्रद्धा रखो और चलते चलो।

१३ जुलाई, १९७२

*

हमारी सबसे बड़ी सहायता है—श्रद्धा। भगवान् दयामय हैं।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

विश्वास

बालक के सरल विश्वास में बड़ी शक्ति होती है।

१७ नवम्बर, १९५४

*

बालक के-से विश्वास के साथ हमारा हृदय भगवान् से अनुनय-विनय करता है।

५ दिसम्बर, १९५४

*

कठिनाइयों का सामना करने के लिए सबसे अच्छा तरीका है 'भागवत कृपा' पर स्थिर, अचंचल विश्वास।

१३ अगस्त, १९६६

*

श्रद्धा और विश्वास रखो एवं प्रसन्न रहो।

*

कोई सलाह?

स्थिर और विश्वस्त रहो।

३ सितम्बर, १९७२

*

हर एक अपूर्ण है और उसे प्रगति करनी है। दृढ़ और विश्वस्त रहो।

१७ दिसम्बर, १९७२

*

विश्वस्त रहो, तुम्हें जो बनना है वह बन जाओगे और जो करना है उसे प्राप्त कर लोगे।

*

तुम्हें भगवान् की विजय में पूरा-पूरा विश्वास होना चाहिये—और इस व्यापक 'विजय' में उन सबकी व्यक्तिगत विजय भी आ जाती है जो निष्ठावान् और विश्वस्त रहेंगे।

*

विश्वास के साथ हम आगे बढ़ेंगे, निश्चिति के साथ हम प्रतीक्षा करेंगे।

निश्चिति

हमें इस शान्त निश्चिति के साथ आगे बढ़ना चाहिये कि जो किया जाना है वह कर दिया जायेगा।

६ जुलाई, १९५४

*

निश्चिति : विश्वस्त और अचंचल, यह कभी तर्क नहीं करती।

*

विजय की निश्चिति : यह शोर नहीं मचाती, पर है निश्चित।

भागवत कृपा

'परम प्रभु' ने संसार में अपनी 'कृपा' उसकी रक्षा करने के लिए भेजी है।

*

तुम्हें प्रार्थना करनी चाहिये 'भागवत कृपा' के लिए—अगर न्याय अभिव्यक्त हो तो ऐसे लोग बहुत कम निकलेंगे जो उसके आगे ठहर सकें।

*

न्याय 'वैश्व प्रकृति' की गतिविधियों का कठोर, युक्तियुक्त नियतिवाद है। रोग इसी नियतिवाद का भौतिक शरीर में विनियोग है। चिकित्सक का मन इस अपरिहार्य 'न्याय' की नींव पर खड़ा होकर ऐसी परिस्थितियां लाने की कोशिश करता है जिन्हें युक्तियुक्त रूप से अच्छे स्वास्थ्य की ओर ले जाना चाहिये। नैतिक चेतना यही चीज सामाजिक शरीर में और *तपस्या* आध्यात्मिक क्षेत्र में कार्यान्वित करती है।

केवल 'भागवत कृपा' में ही वह शक्ति है जो 'वैश्व न्याय' के मार्ग में हस्तक्षेप कर सकती है और उसे बदल सकती है। अवतार का महान् कार्य है 'भागवत कृपा' को धरती पर प्रकट करना। अवतार के शिष्य होने का

अर्थ है 'भागवत कृपा' का यन्त्र बनना। माता तादात्म्य द्वारा वैश्व न्यायतन्त्र के पूर्ण ज्ञान के साथ, तादात्म्य द्वारा 'भागवत कृपा' की महान् वितरक हैं।

और उनकी मध्यस्थता द्वारा भगवान् के प्रति सच्ची और विश्वासपूर्ण अभीप्सा की हर गति, उत्तरस्वरूप 'भागवत कृपा' के हस्तक्षेप को नीचे उतार लाती है।

हे प्रभु! कौन है जो तेरे सामने खड़ा होकर पूरी सचाई के साथ कह सके कि उसने कभी कोई भूल नहीं की। दिन में कितनी बार हम तेरे 'कार्य' के विरुद्ध अपराध करते हैं और हमेशा तेरी कृपा उन्हें मिटा देने के लिए आ जाती है।

'तेरी कृपा' के हस्तक्षेप के बिना हम बहुधा तेरे 'वैश्व न्याय के विधान' के अपरिहार्य खड्ग के नीचे आते।

यहां प्रत्येक व्यक्ति समाधान के लिए किसी-न-किसी असम्भवता का प्रतिनिधि है लेकिन 'तेरी भागवत कृपा' के लिए सब कुछ सम्भव है। 'तेरा कार्य' सम्पन्न होगा समग्रतया और ब्योरे के साथ इन सारी असम्भवताओं को दिव्य उपलब्धियों में रूपान्तरित करने से।

१५ जनवरी, १९३३

*

'भागवत कृपा', 'तेरी' भलाई अनन्त है। हम 'तेरे' आगे कृतज्ञता के साथ नमन करते हैं।

*

माताजी,

'भागवत कृपा' का मूल आधार क्या है? क्या 'परम जननी' 'अपनी कृपा' के साथ हमेशा उन लोगों के लिए तैयार नहीं रहतीं जो उसे नीचे बुला सकें?

हां।

क्या यह सच नहीं है कि भगवान् की खोज करने वालों में से अधिकतर उसे नीचे नहीं बुला सकते? फिर भी यदि किसी गुरु या अवतार ने

उसे एक बार अपने अन्दर उतार लिया है तो वे भी उसे पा सकते हैं। क्या ऐसा नहीं है?

हां।

तो क्या हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि 'भागवत कृपा' उस स्थिति में ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकती है जब वह धरती की चेतना में स्थापित हो चुकी हो? क्या आपके प्रयास का लक्ष्य उसे स्थायी रूप से स्थापित करना है?

हां।

कृपया मुझे सारा सिद्धान्त समझाइये।

'भागवत कृपा' को शब्दों और मानसिक सूत्रों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

७ अप्रैल, १९३९

*

केवल 'भागवत कृपा' ही शान्ति, सुख, शक्ति, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द और प्रेम को उनके सार और सत्य के साथ प्रदान कर सकती है।

३० नवम्बर, १९५४

*

'भागवत कृपा' के सामने कौन योग्य है और कौन अयोग्य?
सभी तो उसी एक दिव्य 'मां' के बालक हैं।
'उनका' प्रेम उन सब पर समान रूप से फैला हुआ है।
लेकिन 'वे' हर एक को उसकी प्रकृति और ग्रहणशीलता के अनुसार देती हैं।

*

कहो—"मुझे भगवान् की कृपा मिली है, मुझे उसके योग्य बनना चाहिये", तो सब कुछ ठीक होगा।

*

आओ, हम अपने-आपको निःशेष भाव से भगवान् के अर्पण कर दें, इस तरह हम भागवत कृपा को अच्छी-से-अच्छी तरह पा सकेंगे।

*

'भागवत कृपा' सबके लिए समान रूप से है, लेकिन हर एक उसे अपनी सचाई के अनुसार पाता है। वह बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, सच्ची अभीप्सा और उद्घाटन पर निर्भर होती है।

*

भगवान् की दी हुई कृपा का समुचित उपयोग: कोई विकृति नहीं, कोई ह्रास नहीं, कोई अति नहीं—स्पष्ट सचाई।

*

'भागवत कृपा' की 'पुकार': शोर मचाती हुई नहीं परन्तु सतत और जो सुनना जानते हैं उनके लिए बहुत गोचर।

भागवत सहायता

जब भी कभी सचाई और सद्भावना होती है, 'भगवान्' की सहायता भी वहां रहती है।

१९ अप्रैल, १९५४

*

अपने समर्पण में हमेशा अनन्य भाव से रहो और अपनी अभीप्सा में सच्चे निष्कपट तो तुम हमेशा भगवान् की सहायता और उनके पथ-प्रदर्शन

की उपस्थिति का अनुभव करोगे।

*

भगवान् की सहायता हो तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

७ जून, १९५४

*

भगवान् की सहायता के बिना किसी के लिए भी साधना सम्भव न होगी। लेकिन सहायता हमेशा मौजूद है।

*

सहायता हमेशा मौजूद रहती है।

यह तो तुम्हें ही अपनी ग्रहणशीलता को जीवित-जाग्रत् रखना है।

कोई मनुष्य जितना ग्रहण कर सकता है, उससे कहीं अधिक विपुल होती है भगवान् की सहायता।

२८ दिसम्बर, १९७२

*

जो चैत्य द्वारा अहंकार पर स्वामित्व पाकर ग्रहणशील बन सकेंगे, वे ही जानेंगे कि यह सहायता क्या है और वे ही उसका पूरा लाभ उठा सकेंगे।

*

हर एक को उसका अवसर दिया जाता है और सभी के लिए सहायता उपस्थित रहती है—लेकिन हर एक को उसकी सचाई और निष्कपटता के अनुपात में लाभ होता है।

*

भागवत सहायता : देखने में मर्यादित, क्रिया में शक्तिशाली।

भगवान् की कृपा और सहायता में श्रद्धा

भगवान् की कृपा पर अटल श्रद्धा रखो।

*

भगवान् की 'कृपा', 'इच्छा' और 'क्रिया' पर पूरी श्रद्धा रखना जारी रखो और सब कुछ ठीक हो जायेगा।

६ नवम्बर, १९३४

*

सब कुछ श्रद्धा की तीव्रता और उचित वृत्ति की दृढ़ता पर निर्भर है।

३० मई, १९३५

*

'भागवत कृपा' हमेशा तुम्हारे साथ है। नीरव मन से अपने हृदय में एकाग्र होओ और निश्चय ही तुम उस पथ-प्रदर्शन और सहायता को पा लोगे जिसके लिए तुम अभीप्सा करते हो।

*

उन सबके लिए कृपा और सहायता हमेशा मौजूद रहती है जो इनके लिए अभीप्सा करते हैं और जब इन्हें श्रद्धा और विश्वास के साथ ग्रहण किया जाये तो इनकी शक्ति असीम होती है।

*

'भागवत कृपा' कार्य करने के लिए हमेशा मौजूद है लेकिन तुम्हें उसे कार्य करने देना चाहिये, उसकी क्रिया का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये। एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रद्धा। जब तुम्हें लगे कि आक्रमण हो रहा है तो सहायता के लिए श्रीअरविन्द को और मुझे पुकारो। अगर तुम्हारी पुकार सच्ची है (यानी, अगर तुम सचमुच स्वस्थ होना चाहते हो) तो पुकार को उत्तर मिलेगा और 'भागवत कृपा' तुम्हें स्वस्थ बना देगी।

*

हां, 'भागवत कृपा' में श्रद्धा हमेशा उसका हस्तक्षेप लाती है।

*

'भागवत कृपा' की क्रिया सम्पूर्ण और सर्वांगीण परिणाम लाये इसके लिए श्रद्धा को *सम्पूर्ण और सर्वांगीण* होना चाहिये।

*

फिर एक बार, मनुष्य के मन में श्रद्धा का अभाव उलझनें और दुःख ले आया है जब कि भागवत निर्देशन में शान्त श्रद्धा से सब कुछ बहुत सरल और आसान हो सकता था।

मैं इसी श्रद्धा और विश्वास के विकास के लिए बहुत वर्षों से काम में लगी हूं।

स्पष्ट ही है कि प्रतिरोध दुराग्रही है।

*

निराशाजनक क्यों? अगर सौ में से एक भी ऐसा हो जिसमें सच्ची श्रद्धा है तो यह अपने-आप में एक चमत्कार है!

*

'भागवत कृपा' हमें कभी निराश न करेगी—हमें यह श्रद्धा अपने हृदय में निरन्तर बनाये रखनी चाहिये।

१० मई, १९५४

*

हमारे अन्दर श्रद्धा का अभाव ही हमारी सीमाओं की रचना करता है।

३० जुलाई, १९५४

*

भागवत कृपा हमारे साथ है और हमें कभी नहीं छोड़ती—तब भी नहीं जब सब कुछ अन्धकारमय प्रतीत होता है।

१७ अगस्त, १९५४

*

परम प्रभु की शक्ति अनन्त है—यह तो हमारी श्रद्धा है जो सीमित है।

२३ अगस्त, १९५४

*

हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण, सभी अवस्थाओं में 'भागवत कृपा' हमें सभी कठिनाइयों को पार करने में हमारी सहायता के लिए मौजूद है।

८ अक्तूबर, १९५४

*

असफलता और सफलता दोनों में 'भागवत कृपा' हमेशा मौजूद रहती है।

१ दिसम्बर, १९५४

*

तुम भगवान् के जितना अधिक निकट आओगे उतना ही अधिक तुम 'उनकी' असीम 'कृपा' के अत्यधिक स्पष्ट प्रमाणों की फुहार में निवास करोगे।

१५ अगस्त, १९५५

*

अपने आप में 'भागवत कृपा' जो है उसके अनुपात में हमारी श्रद्धा 'भागवत कृपा' की शक्तिमत्ता के कभी बराबर नहीं होती।

जुलाई, १९५६

*

अन्तिम विश्लेषण में, 'भागवत कृपा' में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास ही 'परम प्रज्ञा' है।

१५ अगस्त, १९५६

*

इस प्रत्यक्ष अस्तव्यस्तता में से एक नयी और अधिक अच्छी व्यवस्था

रूप ले रही है। लेकिन उसे देखने के लिए तुम्हारे अन्दर 'भागवत कृपा' में श्रद्धा होनी चाहिये। हिम्मत बनाये रहो।

१३ अक्तूबर, १९५६

*

वर्तमान बढ़ते हुए संघर्ष में हमारी वृत्ति कैसी होनी चाहिये?

'भागवत कृपा' में श्रद्धा और पूर्ण विश्वास।

२ नवम्बर, १९५६

*

जब सब कुछ खोया हुआ प्रतीत होता है तभी सब कुछ बचाया जा सकता है। जब तुम अपनी निजी शक्तियों पर विश्वास खो बैठते हो, तब तुम्हें भागवत कृपा पर विश्वास रखना चाहिये।

२८ जनवरी, १९७०

*

"ठीक उसी समय जब सब कुछ अधिक, और अधिक खराब होता प्रतीत होता है, हमें परम श्रद्धा का परिचय देना चाहिये और यह जानना चाहिये कि 'भागवत कृपा' कभी हमारा साथ न छोड़ेगी।"

(१९४७ का नव वर्ष का सन्देश)

मेरा मतलब है कि सभी परिणामों की परवाह किये बिना अपने आन्तरिक विश्वास के अनुसार कार्य करो और तथाकथित प्रतिकूल प्रत्यक्ष प्रमाणों के होते हुए अपनी श्रद्धा को अविचल बनाये रखो।

*

निश्चित है कि यह सब हमें *निश्चल श्रद्धा* सिखाने के लिए आता है कि जो *सचमुच आवश्यक* है वह हमें मिलेगा, बाकी के लिए, हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

*

अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि सब कुछ सचमुच 'भागवत कृपा' पर निर्भर है और हमें भविष्य की ओर विश्वास और प्रसन्नता के साथ देखना चाहिये, साथ-ही-साथ यथासम्भव जल्दी-से-जल्दी प्रगति करनी चाहिये।

*

मुक्ति तीव्र श्रद्धा में है।

अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि 'परम प्रभु' ही सब कुछ करते हैं।

हमें निष्ठावान् यन्त्र होना चाहिये।

२९ अगस्त, १९७२

*

श्रद्धा और अविचल विश्वास रखो। 'भागवत कृपा' बाकी सब कर देगी।

*

आओ, हम अपनी इच्छा-शक्ति 'भागवत कृपा' के अर्पण कर दें। 'भागवत कृपा' ही सब कुछ पूरा करती है।

*

'भागवत कृपा': केवल 'भागवत कृपा' कार्य कर सकती है। वही मार्ग खोल सकती है, वही चमत्कार कर सकती है।

*

'भागवत कृपा' में पूरी श्रद्धा रखो। वही सब चमत्कारों को करती है।

*

हमें केवल 'भागवत कृपा' पर निर्भर रहना और सभी परिस्थितियों में उसे ही बुलाना सीखना चाहिये। तब वह सतत चमत्कार करती रहेगी।

*

यात्रा चाहे जितनी लम्बी हो और यात्री चाहे जितना महान्, अन्त में जरूरत होती है 'भागवत कृपा' पर ऐकान्तिक सतत निर्भरता की।

*

केवल 'भागवत कृपा' ही हमारा सहारा होगी।

भागवत कृपा और सहायता पर भरोसा

जो सचाई के साथ 'भागवत कृपा' पर भरोसा करता है उसके लिए कृपा अनन्त है।

१५ मार्च, १९३५

*

'भागवत कृपा' हमेशा तुम्हारे साथ रहती है और अपने भरोसे के द्वारा तुम उसकी क्रियाओं को प्रभावकारी होने देते हो।

*

'भागवत' कृपा पर हमारे भरोसे के अनुपात में ही 'भागवत कृपा' हमारे लिए कार्य कर सकती है और हमारी सहायता कर सकती है।

*

भगवान् पर पूर्ण भरोसा : वह भरोसा जो जीवन को सच्चा सहारा देता है।

*

भगवान् पर हमारा भरोसा बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होना चाहिये।

*

ऐसे बहुत कम हैं जो भगवान् पर अपनी श्रद्धा और भरोसे की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े रह सकते हैं।

११ अक्तूबर, १९३६

*

सहायता की मांग करना और भरोसा न रखना बेतुका है। इसके विपरीत विश्वास से हर चीज कितनी आसान हो जाती है।

'भागवत कृपा' पर भरोसे से सभी बाधाओं को पार किया जा सकता है।

२० अप्रैल, १९५४

*

जब हम भगवान् की कृपा पर भरोसा करते हैं तो हमें अचूक साहस मिलता है।

१५ मई, १९५४

*

'भागवत कृपा' पर पूरा भरोसा रखो, 'भागवत कृपा' सब तरह से तुम्हारी सहायता करेगी।

४ जून, १९५४

*

उस बालक की तरह जो तर्क नहीं करता और जिसे कोई चिन्ता नहीं है, अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दो ताकि 'उनकी' इच्छा पूरी हो।

२७ सितम्बर, १९५४

*

चाहे कुछ क्यों न हो, हमें शान्त रहना चाहिये और भगवान् की कृपा

पर भरोसा रखना चाहिये।

२५ *अक्तूबर*, १९५४

*

सिर ठण्डा रखो, मजबूत और *बहुत शान्त स्नायु* रखो और भगवान् की कृपा पर *पूरा भरोसा* रखो।

*

भगवान् पर भरोसे के लिए अभीप्सा : 'भागवत कृपा' की निश्चिति द्वारा दी गयी अविचल शान्ति के लिए प्रबल आवश्यकता।

*

किसी चीज की तुलना उस शान्ति के साथ नहीं की जा सकती जो भागवत कृपा पर पूरा-पूरा भरोसा करने से आती है।

*

सारी चिन्ता, जिसमें प्रगति की चिन्ता भी शामिल है, 'भागवत कृपा' पर छोड़ दो तो तुम शान्ति से रहोगे।

५ मई, १९५८

*

मधुर मां,
मैं बच्चों की शरारत को कैसे दबा सकती हूं जब कि मैं उनके सामने कांपती हूं? मैं ऐसे वातावरण को नीचे कैसे पुकार सकती हूं जिसमें ये गलत क्रियाएं न हों और बच्चों के मुंह से कोई गन्दी बात न निकले? इस उच्छृंखल जमघट में मैं शान्ति और ज्ञान कैसे ला सकती हूं? मैं बहुत कमजोर, बहुत शर्मीली हूं। मुझे कैसे व्यवहार करना चाहिये जिससे मैं उनके अन्दर की इस क्रिया को नियन्त्रित कर सकूं?

शान्ति और ज्ञान लाने के लिए व्यक्ति को बुद्धिमान् और शान्त होना चाहिये; तुम कहती हो कि तुम कमजोर हो, लेकिन तुमसे अपनी ही शक्ति पर आश्रित होने के लिए कोई नहीं कह रहा; तुम्हारी शक्ति, तुम्हारा ज्ञान और तुम्हारी शान्ति भगवान् की हैं और तुम्हें केवल उन पर आश्रित होना चाहिये। 'भागवत कृपा' में पूर्ण विश्वास रखो, अपने तुच्छ व्यक्तित्व को एक किनारे रख कर 'भागवत कृपा' को कार्य करने दो; वह तुमसे वही करायेगी जो आवश्यक होगा और सब कुछ ठीक हो जायेगा।

४ जुलाई, १९६२

*

आदमी जितना अधिक जानता जाता है, उतना ही अधिक अनुभव करता जाता है कि वह कुछ नहीं जानता।

*

जिसे भगवान् पर, 'उनकी' प्रज्ञा और दया पर पूर्ण विश्वास है, उसके लिए कोई समस्या नहीं रह जाती।

*

भगवान् की विजय *निश्चित* है। अगर हम *सच्चा* भरोसा रखें तो कभी गलत रास्ता न लेंगे।

भागवत कृपा और कठिनाइयां

केवल 'भागवत कृपा' में अविचल विश्वास और श्रद्धा के साथ पूरी तरह से शान्त और निश्चल बने रहने से ही तुम परिस्थितियों को यथासम्भव *अच्छे-से-अच्छा* पा सकते हो। उन लोगों के लिए *हमेशा अच्छे-से-अच्छा होता है* जो भगवान् और केवल भगवान् पर ही पूरा भरोसा करते हैं।

९ फरवरी, १९३०

*

1962

When, in your life, you meet with a hardship, take it as a grace from the Lord and, indeed, it will become so

जब कभी, अपने जीवन में तुम्हें संकट का सामना करना पड़े तो उसे प्रभु की कृपा के वरदान के रूप में लो और वह वही बन जायेगा।

१९६२

*

किसी भी अवस्था में और जो कुछ भी घटे, घटनाओं को उस 'भागवत कृपा' के उपहार के रूप में लो जो तुम्हें शीघ्रगामी मार्गों से तुम्हारे जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जा रही है।

१४ जनवरी, १९६३

*

जो किया जा सकता है कर दिया जायेगा, लेकिन यह खेद का विषय है कि तुमने चेतावनी के लिए इतनी लम्बी प्रतीक्षा की।

बहरहाल, सचमुच प्रभावशाली, एकमात्र चीज यही है कि जो भगवान् की इच्छा हो उसी की इच्छा करो और 'भागवत कृपा' की परम अनुकम्पा पर अचल अटल विश्वास रखो क्योंकि उसके द्वारा हमेशा अच्छे-से-अच्छा ही होता है; परन्तु वह अच्छे-से-अच्छा मानव विचारों के अनुसार नहीं, 'परम सत्य' के अनुसार अच्छे-से-अच्छा होता है।

ठोस, शुद्ध श्रद्धा से भरपूर और शान्त रहो।

*

मुझे तुम्हारा पत्र मिल गया है और मैं तुम्हारी अभीप्सा को समझती हूं।

लेकिन चिकित्सक का कहना है कि तुम्हें अब भी बुखार है और तुम्हें जाने देना असम्भव है, क्योंकि यह तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए खतरनाक होगा।

इसलिए, करने लायक चीज एक ही है कि तुम जिन अवस्थाओं में हो उन्हें यह जानते हुए शान्ति के साथ स्वीकार कर लो कि जिसमें भगवान् के प्रति श्रद्धा होती है उसके लिए जो कुछ होता है, हमेशा उत्तम होता है। भगवान् नहीं चाहते कि मनुष्य दुःख भोगें, लेकिन अपने अज्ञान में मनुष्य इस तरह प्रतिक्रिया करते हैं कि वे अपने ऊपर दुःख ले आते हैं। शान्ति, नीरवता, और समर्पण में ही एकमात्र समाधान है।

९ फरवरी, १९६४

*

सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम क्या चाहते हो। अगर तुम योग चाहते हो, तो *जो कुछ* होता है उसे 'भागवत कृपा' के रूप में लो जो तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य की ओर ले जा रही है और परिस्थितियां जो पाठ सिखाती हैं उसे समझने की कोशिश करो।

२३ अप्रैल, १९६४

*

जिन्होंने अपने-आपको भगवान् को दे दिया है उनके सामने आने वाली हर कठिनाई नयी प्रगति का आश्वासन होती है और इसलिए उसे 'भागवत कृपा' के उपहार के रूप में लेना चाहिये।

१९ जून, १९६६

*

जब कठिनाइयां तुम्हें घेर लें, तो यह जानो कि 'भागवत कृपा' तुम्हारे साथ है।

*

लोग यह मानते हैं कि 'भागवत कृपा' का अर्थ है तुम्हारे सारे जीवन के लिए चीजों को सरल बना देना। यह सच नहीं है।

'भागवत कृपा' तुम्हारी अभीप्सा को चरितार्थ करने के लिए कार्य करती है और सबसे अधिक तत्पर और सत्वर चरितार्थता प्राप्त करने के लिए हर एक चीज व्यवस्थित की गयी है।

२६ मई, १९६७

*

'भागवत कृपा' ऐसी चीज है जो तुम्हें उस लक्ष्य की ओर धकेलती है जिसे तुम्हें पाना है। उसका निर्णय अपने मन से न करो, तुम कहीं न पहुंच पाओगे, क्योंकि यह एक दुर्जेय चीज है जो मानवीय शब्दों या भावनाओं द्वारा नहीं समझायी जा सकती। जब 'भागवत कृपा' कार्य करती है, तो परिणाम सुखद हो भी सकते हैं और नहीं भी—वह किसी मानवीय मूल्य की परवाह नहीं करती, सामान्य और ऊपरी दृष्टिकोण से वह विध्वंस भी हो सकता है। लेकिन यह व्यक्ति के लिए हमेशा उत्तम होता है। वह 'भगवान्' के द्वारा भेजा प्रहार होता है ताकि प्रगति झटपट हो सके। 'भागवत कृपा' ही तुम्हें सिद्धि के पथ पर तेजी से चलाती है।

*

हमें इस एक बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि—जो कुछ होता है ठीक वही होता है जो हमें और संसार को यथासम्भव जल्दी-से-जल्दी लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए होना चाहिये और वह लक्ष्य है भगवान् के साथ सायुज्य और अन्ततः 'उनकी' अभिव्यक्ति।

और यह श्रद्धा—निष्कपट और सतत श्रद्धा—एक ही साथ हमारी सहायता भी है और सुरक्षा भी।

भक्ति और आत्मदान

भक्ति

भक्ति : विनयशील और सुरभित, यह बदले में कुछ चाहे बिना अपने-आपको देती है।

*

भक्तिपूर्ण वृत्ति : विनयशील और अपने-आपको भुलाने वाली, यह विलक्षण फल देती है।

*

ऐसी भक्ति जो हृदय की गहराइयों में एकाग्रचित्त और शान्त रहती है लेकिन सेवा और आज्ञापरता में अभिव्यक्त होती है; वह चिल्लाती और रोती हुई भक्ति से कहीं अधिक शक्तिशाली, अधिक सच्ची, अधिक दिव्य होती है।

*

सच्ची भक्ति गंगाजल से कहीं अधिक प्रभावकारी है।

पूजा

पूजा : तुम्हारी भक्ति का रूप या उसकी बाहरी अभिव्यक्ति।

*

सच्ची पूजा : सम्पूर्ण और सतत, बिना किसी मांग या अपेक्षा के।

*

अर्पण

जीवन को भगवान् के प्रति अर्पित पुष्प की भांति खिलना चाहिये।

*

भगवान् को किया गया अर्पण ही एकमात्र अर्पण है जो मनुष्य को सचमुच समृद्ध बनाता है।

*

अर्पण : रूपान्तर के लिए अपनी सम्पूर्ण सत्ता को, उसकी सभी सच्ची और मिथ्या, अच्छी और बुरी, उचित या अनुचित क्रियाओं के साथ भगवान् के सामने रखना।

*

अपने अन्धकारों को सच्ची निष्कपटता के साथ भगवान् को समर्पित कर दो और तुम प्रकाश पाने के योग्य बन जाओगे।

*

हम भगवान् के आगे अपनी सत्ता का जो अर्पण करें, वह समग्र और प्रभावकारी होना चाहिये।

२४ अगस्त, १९५४

*

सम्पूर्ण अर्पण : सिद्धि का सबसे अधिक निश्चित मार्ग।

*

अप्रतिबन्ध सम्पूर्ण अर्पण : बदले में कुछ भी मांगे बिना अपने-आपको देने का आनन्द।

*

निवेदन

निवेदन है निष्पत्ति, जब 'प्रकाश' तुम्हारी सत्ता के सभी भागों को आलोकित कर देता है, केन्द्रीय इच्छा जब अनुभवों, आवेगों, विचारों, संवेदनाओं, क्रियाओं पर कार्य करती हुई उन्हें हमेशा भगवान् की ओर मोड़ती है और जब तुम अन्धकार से प्रकाश की ओर या मिथ्यात्व से सत्य की ओर या दुःख से सुख की ओर नहीं बल्कि प्रकाश से अधिक प्रकाश, सत्य से अधिक ऊंचे सत्य और सुख से बढ़ते हुए सुख की ओर गति करते हो।

*

भगवान् के प्रति सच्चे और निष्कपट निवेदन में ही हम अपने अति-मानवीय दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं।

*

ध्यान के द्वारा प्राप्त किया गया अचंचल मन सचमुच बहुत कम समय के लिए रहता है, क्योंकि जैसे ही तुम ध्यान से बाहर निकलते हो उसके साथ-ही-साथ तुम मन की अचंचलता से भी बाहर निकल आते हो। प्राण, शरीर और मन में सच्ची, स्थायी अचंचलता 'भगवान्' के प्रति पूर्ण निवेदन से आती है; क्योंकि जब तुम किसी भी चीज को, अपने-आपको भी अपना न कह सको, जब सब कुछ, तुम्हारे शरीर के साथ-साथ तुम्हारी संवेदनाएं, अनुभव और विचार भगवान् के हो जाते हैं, तो भगवान् सभी चीजों का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व ले लेते हैं और तुम्हें किसी बात की चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

*

ध्यान की अपेक्षा, साधना में, तुम जो कुछ हो, और जो कुछ करते हो उसका सच्चा निवेदन अधिक प्रभावशाली होता है।

*

घोर तपस्या की अपेक्षा सच्चा प्रेम और निवेदन भगवान् की ओर कहीं ज्यादा तेजी से ले जाते हैं।

२६ अप्रैल, १९३७

आत्मदान

आत्मदान सच्ची प्रार्थना है।

*

आत्मदान : इसके द्वारा सारी सत्ता क्रमशः केन्द्रीय चैत्य सत्ता के चारों ओर एक हो जाती है।

*

अपने-आपको देना—यह अपने-आपको पाने का सबसे अच्छा तरीका है।

*

अपने-आपको, तुम जो हो और जो करते हो, भगवान् को दे दो, और तुम शान्ति पा लोगे।

*

अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को दे दो और तुम देखोगे कि तुम्हारे सभी कष्टों का अन्त हो गया है।

*

सच्चा और निष्कपट आत्मदान ही मनुष्य को सभी कठिनाइयों और खतरों से बचाता है।

*

कभी न कहो, "मेरे पास भगवान् को देने के लिए कुछ भी नहीं है।"

देने के लिए हमेशा कुछ-न-कुछ होता है, क्योंकि तुम हमेशा अपने-आपको अधिक अच्छे और अधिक पूर्ण रूप में दे सकते हो।

*

भगवान् के लिए तुम्हारा मूल्य उससे ज्यादा नहीं है जितना तुमने 'उनको' दिया है।

*

तुम्हारे पास जो चीज अधिक है उसे 'भगवान्' को देना समर्पण नहीं है। तुम्हें जिस चीज की आवश्यकता हो उसमें से कुछ-न-कुछ देना चाहिये।

*

अगर तुम याद रखो कि 'भगवान्' को तुमने क्या दिया है, तो 'उन्हें' उसे याद रखने की कोई आवश्यकता न होगी; और अगर कभी तुम उस उपहार के बारे में किसी से बात करो या उसकी चर्चा करो तो वह 'भगवान्' को नहीं, बल्कि दम्भ के असुर को किया गया अर्पण होगा।

*

पूर्ण आत्मदान : पूरी तरह से खुला हुआ, स्पष्ट और शुद्ध।

*

चैत्य सिद्धि को आध्यात्मिक सिद्धि के साथ उलझा न दो, क्योंकि चैत्य सिद्धि तुम्हें देश और काल के अन्दर, अभिव्यक्त विश्व के अन्दर ही रखेगी।

जब कि आध्यात्मिक सिद्धि का प्रभाव तुम्हें सारी सृष्टि, देश और काल के परे ले जायेगा।

अपने-आपको अपने-आप से बड़े के हाथों में पूरी तरह दे देने से बढ़कर पूर्ण और कोई आनन्द नहीं है। 'भगवान्', 'परम स्रोत', 'भागवत उपस्थिति', 'निरपेक्ष सत्य'—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम 'उसे' क्या नाम देते हैं या उसके किस रूप के द्वारा उस तक पहुंचते हैं—सम्पूर्ण

निवेदन में अपने-आपको पूरी तरह भूल जाना 'सिद्धि' की ओर जाने का निश्चिततम मार्ग है।

१३ जनवरी, १९५२

*

हर चीज कितनी सुन्दर, कितनी महान्, कितनी सरल और कितनी शान्त बन जाती है जब हमारे विचार 'भगवान्' की ओर मुड़ जाते हैं और हम अपने-आपको 'भगवान्' को समर्पित कर देते हैं।

११ मई, १९५४

*

हमें अपना जीवन और अपनी मृत्यु भी, अपना सुख, अपना दुःख भी देना जानना चाहिये।

२८ दिसम्बर, १९५४

*

भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मदान के लिए तीन विशेष विधियां :

१. सारे गर्व को त्याग कर पूर्ण नम्रता के साथ अपने-आपको 'उनके' चरणों में साष्टांग प्रणत करना।

२. अपनी सत्ता को 'उनके' सामने खोलना, नख से शिख तक अपने सारे शरीर को खोल देना जिस तरह किताब खोली जाती है, अपने केन्द्रों को अनावृत कर देना जिससे कि उनकी सभी क्रियाएं पूर्ण सच्ची निष्कपटता में प्रकट हो जायें जो किसी चीज को छिपा नहीं रहने देती।

३. 'उनकी' भुजाओं में आश्रय लेना, प्रेममय और सम्पूर्ण विश्वास के साथ 'उनमें' विलीन हो जाना।

इन क्रियाओं के साथ-साथ ये तीन सूत्र या व्यक्ति के अनुसार इनमें से कोई एक अपनाया जा सकता है :

१. 'तेरी इच्छा' पूर्ण हो, मेरी नहीं।

२. जैसी 'तेरी इच्छा', जैसी 'तेरी इच्छा'।

३. मैं हमेशा के लिए 'तेरा' हूं।

साधारणतः जब ये क्रियाएं सच्चे तरीके से की जाती हैं तो इनके साथ-साथ पूर्ण ऐक्य, अहम् का पूर्ण विलयन हो जाता है जिससे महान् आनन्द का जन्म होता है।

*

'परम ऐक्य' की ओर तीन 'चरण'—
तुम्हारे पास जो हो सब दे दो, यह आरम्भ है।
तुम जो करो सब दे दो, यह मार्ग है।
तुम जो हो सब दे दो, यह प्राप्ति है।

*

मैंने पढ़ा और सुना है कि व्यक्ति को "अपने-आपको" भगवान् को दे देना चाहिये। मैं यह नहीं समझ पाता कि हमें "अपने-आपको" कैसे देना चाहिये?

अपने विचार से, अपने विचारों को दो।
अपने हृदय से, अपने भावों को दो।
अपने शरीर से, अपना काम दो।

२१ मार्च, १९६५

*

सभी शब्दों के परे, सभी विचारों के परे अभीप्सा करती हुई श्रद्धा की आलोकित नीरवता में अपने-आपको सर्वांगीण रूप से, बिना कुछ बचाये, पूरी तरह सभी अस्तित्वों के 'परम प्रभु' को दे दो और 'वे' जो तुम्हें बनाना चाहते हैं उसके अनुसार तुम्हारा उपयोग करेंगे।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

५ मार्च, १९६६

*

भागवत सेवा

No joy can be greater
than that of serving the Divine

भगवान् की सेवा से मिले हर्ष से बढ़कर और कोई हर्ष नहीं हो सकता।

*

भगवान् की सेवा से बढ़कर और कोई हर्ष नहीं है।

१४ मई, १९५४

*

हमें हमेशा पूरी तरह, ऐकान्तिक रूप से, भगवान् के सेवक होना चाहिये।

३१ अक्तूबर, १९५४

*

हमें भगवान् के सिवा और किसी की सेवा में न होना चाहिये।

*

Above all preferences
we want to be at the
service of the Divine.

सभी पसन्दों से ऊपर, हम भगवान् की सेवा में रहना चाहते हैं।

*

भगवान् की सेवा में रहना उपलब्धि पाने का सबसे निश्चित साधन है।

*

(भगवान् की सेवा और ध्यान के बारे में)

दोनों समान रूप से अच्छे हैं। फिर भी, केवल ध्यान की अपेक्षा सेवा द्वारा अधिक पूर्ण उपलब्धि पायी जा सकती है।

*

सचाई के साथ भगवान् की हर सेवा साधना है।

सेवा करने की ललक में वृद्धि प्रगति का निश्चित लक्षण है।

जनवरी, १९६६

*

जीवन में तुम जो कुछ भी करो, उसे किसी और की नहीं भगवान् की ही सेवा के रूप में करो।

तुम जो कुछ हो, जो कुछ सोचते या अनुभव करते हो उसके बारे में तुम, और किसी के नहीं, भगवान् के प्रति ही उत्तरदायी हो।

वही तुम्हारे जीवन और तुम्हारी सत्ता के एकमात्र 'प्रभु' हैं। अगर तुम पूरी सचाई के साथ, पूरी तरह उनके आगे समर्पण करो तो वे तुम्हारा उत्तरदायित्व ले लेंगे और तुम्हारा हृदय शान्त रहेगा।

बाकी सब 'अज्ञान' के जगत् का है जिस पर अज्ञान का शासन है, जिसका अर्थ है अस्तव्यस्तता और दुःख-कष्ट।

आशीर्वाद।

१९६६

*

ऊर्जा सतत गतिशील होती है। वह तुम्हारी भौतिक सत्ता में (मन, प्राण और शरीर में) प्रवेश करती और निकल जाती है। जब वह जिसे "तुम" मानते हो उसमें निवास करती है उस समय तुम्हें उसे भगवान् के अर्पित कर देना और 'उनकी' सेवा में लगाना चाहिये।

तब अपने-आप तुम हर क्षण वही करोगे जो भगवान् तुमसे कराना चाहते हैं।

१२ दिसम्बर, १९६७

*

समस्त जीवन भगवान् की ओर अभिमुख, भगवान् के अर्पित, भगवान् की सेवा में हो, ताकि थोड़ा-थोड़ा करके वह भगवान् की अभिव्यक्ति बन जाये।

३० जनवरी, १९७३

भागवत इच्छा के प्रति समर्पण

समर्पण

समर्पण : अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् के हाथों में सौंप देने का निर्णय। यह मन के द्वारा या भावनाओं या जीवन आवेगों के द्वारा या फिर सबका मिला-जुला निर्णय होता है।

*

भगवान् को समर्पण करने का अर्थ है, अपनी तंग सीमाओं का त्याग करके अपने-आपको 'उनके' द्वारा आक्रान्त होने देना और 'उनकी' लीला का केन्द्र बनने देना।

*

अगर तुम सचमुच उचित रीति और समग्र रूप से भगवान् को समर्पित हो तो तुम हर क्षण वही होगे जो तुम्हें होना चाहिये, वही करोगे जो तुम्हें करना चाहिये, और वही जानोगे जो तुम्हें जानना चाहिये।

लेकिन उसके लिए तुम्हें अहंकार की सभी सीमाओं को पार करना होगा।

*

सच्चा समर्पण तुम्हें बड़ा बनाता है, तुम्हारी क्षमता बढ़ाता है, वह तुम्हें मात्रा और गुण में अधिक बड़ा परिमाण देता है जिसे तुम अपने-आप न पा सकते।

*

ब्योरेवार समर्पण : ऐसा समर्पण जो किसी चीज को नहीं भूलता।

*

ब्योरेवार समर्पण का अर्थ है जीवन के समस्त ब्योरों का, छोटी-से-

छोटी और देखने में अत्यन्त नगण्य चीज का भी समर्पण। और इसका अर्थ है सभी परिस्थितियों में भगवान् को याद रखना; हम जो कुछ सोचें, अनुभव करें या करें, उस सबको भगवान् के लिए, 'उनके' निकट आने के लिए, वे हमें जो बनाना चाहते हैं अधिकाधिक वही बनने के लिए, पूरी सचाई के साथ, शुद्ध रूप में 'उनकी' इच्छा अभिव्यक्त करने के लिए, 'उनके' प्रेम का यन्त्र बनने के लिए करें।

*

अगर आदमी पूरी तरह भगवान् के प्रति समर्पण करे तो वह भगवान् के साथ तादात्म्य पा लेता है।

१३ मई, १९५४

*

पूर्ण समर्पण : तादात्म्य के लिए अनिवार्य शर्त।

*

भक्ति और समर्पण की सर्वांगीण और निरपेक्ष सम्पूर्णता में ही हम अविच्छिन्न आनन्द की ओर ले जाने वाली पूर्ण शान्ति की आवश्यक स्थिति पाते हैं।

२ दिसम्बर, १९५४

*

पथ लम्बा है लेकिन आत्म-समर्पण उसे छोटा कर देता है, मार्ग कठिन है पर पूरा भरोसा उसे सरल बना देता है।

*

भगवान् के प्रति समर्पण सबसे अच्छा भावनामय संरक्षण है।

*

भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही सच्ची विश्रान्ति है।

*

साधना में सफलता का रहस्य क्या है?

समर्पण।

१३ अक्तूबर, १९६५

वही चाहना जो भगवान् चाहते हों

समर्पण : वही चाहना जो भगवान् चाहते हों—यही परम प्रज्ञा है।

*

वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं—यही परम रहस्य है।

*

भगवान् की 'इच्छा' के साथ एक और अभिन्न इच्छा : एक ऐसी स्थिति जो सभी बाधाओं पर विजित होती है।

*

'भगवान् की इच्छा'—उच्चतम 'सत्य' को अभिव्यक्त करने वाली इच्छा।

*

हम सभी परिस्थितियों में अपना अच्छे-से-अच्छा करें और परिणाम को भगवान् के निश्चय पर छोड़ दें।

२० मई, १९५४

*

भगवान् हमें जो कुछ देते हैं उससे हमें सन्तुष्ट होना चाहिये और 'वे' हमसे जो कुछ करवाना चाहते हैं उसे बिना किसी दुर्बलता के, व्यर्थ की महत्त्वाकांक्षा के बिना करना चाहिये।

२७ जून, १९५४

*

जब कोई कठिनाई हो तो हमें हमेशा याद रखना चाहिये कि हम यहां पर ऐकान्तिक भाव से भगवान् की इच्छा सम्पन्न करने के लिए हैं।

५ अगस्त, १९५४

*

जब भगवान् की इच्छा के साथ हमारा लगाव सम्पूर्ण होता है तभी हमारी शान्ति और हमारा आनन्द भी सम्पूर्ण होता है।

६ अगस्त, १९५४

*

भगवान् की इच्छा है कि हम हमेशा प्रणालिकाओं की तरह खुलें, हमेशा अधिक विस्तृत रहें ताकि 'उनकी' शक्तियां हमारे सांचे में अपनी प्रचुरता उंडेल सकें।

१६ अक्तूबर, १९५४

*

हमारी इच्छा को हमेशा भागवत इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति होना चाहिये।

१७ अक्तूबर, १९५४

*

हमारी निरन्तर प्रार्थना है कि हम भगवान् की इच्छा को समझ सकें और उसके अनुसार जी सकें।

२८ अक्तूबर, १९५४

*

हमें भगवान् के आगे हमेशा बिलकुल कोरे कागज की तरह रहना चाहिये ताकि हमारे अन्दर भगवान् की इच्छा बिना कठिनाई और बिना मिश्रण के लिखी जा सके।

२० नवम्बर, १९५४

*

हर क्षण हमारी मनोवृत्ति ऐसी हो कि 'भगवान् की इच्छा' हमारे चुनाव का निश्चय करे, ताकि भगवान् हमारे समस्त जीवन को मार्ग दिखा सकें।

२२ नवम्बर, १९५४

*

हमें केवल भगवान् की आंखों से ही देखना और भगवान् की इच्छा से ही काम करना चाहिये।

२६ नवम्बर, १९५४

*

हमें यह जानना चाहिये कि हर चीज के लिए और हर चीज में भगवान् पर कैसे निर्भर रहा जाये। केवल 'वे' ही सब कठिनाइयों को पार कर सकते हैं।

२९ नवम्बर, १९५४

*

भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण में कोई भूल या दोष या कमी बाकी नहीं रह जाती क्योंकि इसमें व्यक्ति वही करता है जिसकी भगवान् ने इच्छा की है और यह उसी तरह किया जाता है जैसे भगवान् ने चाहा है।

३ दिसम्बर, १९५४

*

'परम संकल्प' हमेशा शाश्वत रहस्य बना रहता है और हमारे लिए समस्त आश्चर्य और विस्मय का विषय।

१६ दिसम्बर, १९५४

*

ऐसे बालक की तरह जो तर्क नहीं करता, जो चिन्ता नहीं करता, हम अपने-आपको भगवान् को सौंपते हैं ताकि 'भगवान् की इच्छा' पूरी हो सके।

१८ दिसम्बर, १९५४

*

हर क्षण अपना अच्छे-से-अच्छा करना और परिणाम भगवान् के निर्णय पर छोड़ देना—यही शान्ति, सुख, बल, प्रगति और अन्तिम पूर्णता का सबसे निश्चित मार्ग है।

*

तुम्हें बस एक ही चीज करनी है : अचंचल, अक्षुब्ध, पूरी तरह भगवान् की ओर अभिमुख रहना। बाकी सब 'उनके' हाथों में है।

१८ जुलाई, १९५५

*

वर्तमान जगत् की मुख्य समस्याओं में से एक यह है कि पिछले सौ वर्षों से जनसंख्या बेतहाशा बढ़ गयी है।
१. इतनी सारी आत्माएं इतने कम समय में कैसे विकसित हो गयीं?
२. जनसंख्या के बारे में जगत् की नियति क्या होगी? क्या संख्या वर्तमान गति के साथ बढ़ती जायेगी या किसी समय कृत्रिम उपायों के बिना संख्या यों ही गिर जायेगी?
३. अगर भविष्य में जनसंख्या कम हो जाये तो उन आत्माओं का क्या होगा जो अभी तक विकसित हो चुकी हैं?

'परम चेतना' अभिव्यक्ति पर शासन कर रही है। 'उनकी' प्रज्ञा निश्चय ही हमारी प्रज्ञा से बढ़-चढ़कर है। इसलिए क्या होगा इसके बारे में हमें परेशान होने की जरूरत नहीं है।

आशीर्वाद।

*

भगवान् हमेशा ही विजयी होते हैं लेकिन अपने ही तरीके से, मानवीय तरीके से नहीं, अपनी ही इच्छा से, मानवीय इच्छा से नहीं।

प्रभु हमेशा उपस्थित हैं—केवल हम इस बात को अनुभव नहीं करते।

*

हम प्रभु के आगे अपने प्रस्ताव रखने के लिए हमेशा स्वतन्त्र हैं

लेकिन अन्ततः केवल 'उन्हीं' की इच्छा चरितार्थ होती है।

*

अगर तुम काफी ऊपर से देखो तो तुम चाहे कुछ भी क्यों न करो, तुम कभी अपना समय नष्ट नहीं करते क्योंकि तुम अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हो—और बिना जाने हुए—भगवान् की इच्छा के अनुसार करते हो।

१६ अगस्त, १९६२

*

स्थिर अचंचल रहो और अपने-आपको शान्ति और विश्वास के साथ अर्पित करो।

जो कुछ होता है, हमेशा 'परम पुरुष' की इच्छा का प्रभाव होता है। मानव कर्म अवसर हो सकता है पर कारण कभी नहीं।

३ अगस्त, १९६८

समर्पण की कठिनाइयां

यह बहुत ही विरल है कि कोई किसी-न-किसी कठिनाई का सामना किये बिना पूर्णरूप से भगवान् की इच्छा के प्रति समर्पण कर सके।

*

एक बार व्यक्तित्व बन जाने पर अपने-आपको देने में, समर्पण करने में, फिर से कितने प्रयासों और संघर्षों की जरूरत होती है!

*

अगर इस समय संघर्ष वास्तविक नहीं है तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह किसी दिन एक-न-एक रूप में नहीं आयेगा।

क्योंकि अपने जीवन में कम-से-कम एक बार तो हम ऐसी परिस्थितियों में आते ही हैं जो यह जांचने के लिए होती हैं कि हम 'भागवत इच्छा' को सम्पूर्ण समर्पण करने के लिए तैयार हैं या नहीं; सर्वप्रथम, क्या हम ऐसे

मनुष्य हैं जो भगवान् को पाने और उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए प्रयास कर रहे हैं; संसार की अच्छी या बुरी लगने वाली सभी चीजों को उस परम विजय के हेतु त्यागने के लिए तैयार हैं या नहीं। ऊंचाइयों की ओर उस आरोहण में, सद्‌गुण और कर्तव्य—यानी हमारी मानसिक पसन्द और हमारे पूर्वाग्रह—हमारी बाहरी दुर्बलताओं और दोषों की अपेक्षा बहुत ज्यादा बाधक बनकर खड़े होते हैं। भूल-भ्रान्ति का हमेशा ऊंची कूद के तख्ते की तरह उपयोग हो सकता है जब कि सद्‌गुण बहुधा एक सीमा, एक बाधा बन जाता है जिसे पार करना जरूरी होता है।

मैं श्रीअरविन्द के *योग-समन्वय* में से एक उद्धरण जोड़ती चलूं : "ये सब हमारे अन्दर आत्मा को रूपों और आकारों में घेर लेने के लिए प्रतीक्षा में हैं; लेकिन हमें हमेशा परे जाना होगा, हमेशा ज्यादा बड़े के लिए छोटे को, अनन्त के लिए सान्त को त्यागना होगा। हमें प्रकाश से प्रकाश की ओर, अनुभूति से अनुभूति की ओर, आत्मावस्था से आत्मावस्था की ओर जाने के लिए तैयार रहना होगा ताकि अधिक-से-अधिक भागवत परात्परता और अधिकतम सार्वभौमिकता तक पहुंच सकें।"

*

बहुधा लोग जिस तरह समर्पण करते हैं :

भगवान् अपनी इच्छा अभिव्यक्त करें लेकिन वह मेरी इच्छा के साथ एक हो।

१५ अप्रैल, १९३१

*

एक चीज के बारे में तुम्हें जानना और निश्चय करना चाहिये।

वह यह कि तुम 'सच्चे' भगवान् को चाहते हो या ऐसे को जो तुम्हारी अपनी धारणा के अनुसार हों कि उसे कैसा होना चाहिये।

और तुमने 'भगवान्' के प्रति सच्ची निष्कपटता और समग्रता के साथ समर्पण करने का, 'वे' तुम्हें जैसा बनाना चाहते हैं वैसा बनने और 'उनकी' इच्छा के अनुसार काम करने का निश्चय किया है या तुम यह चाहते हो कि 'भगवान्' वह करें जो तुम 'उनसे' करवाना चाहते हो और

'वे' तुम्हारी इच्छा के अनुसार कार्य करें।

*

मैंने तुम्हारी प्रार्थना को 'परम प्रभु' के सामने रख दिया है। लेकिन अगर तुम 'आनन्द' में रहना चाहते हो तो तुम्हें अपनी इच्छा को 'भगवान्' पर लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, बल्कि इसके विपरीत, तुम्हें समान शान्ति के साथ 'उनकी' ओर से जो कुछ आये उसे स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिये; क्योंकि हमारी प्रगति के लिए क्या अच्छा है इसे 'वे' हमसे ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं।

१३ अगस्त, १९६०

*

केवल 'भागवत इच्छा' पर निर्भर रहने का और उसे अपने द्वारा मुक्त रूप *से काम करने देने का* समय आ गया है।

मैं दोहराती हूं, आखिर समय आ गया है कि तुम अब अपनी तुच्छ इच्छा पर निर्भर न रहो, सारे काम को 'भागवत इच्छा' के हाथों में सौंप दो, अपने द्वारा उसे काम करने दो। केवल अपने मन और संवेदनाओं द्वारा नहीं बल्कि मुख्य रूप से शरीर द्वारा। अगर तुम इसे सचाई के साथ करोगे तो ये सब शारीरिक असंगतियां विलीन हो जायेंगी और तुम अपने काम के लिए सशक्त और उपयुक्त हो जाओगे।

*

जब मनुष्य यह समझ लेंगे कि 'भगवान्' उनकी अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि उनके लिए उत्तम क्या है, तब उनकी बहुत-सी कठिनाइयां गायब हो जायेंगी।

१ अप्रैल, १९६३

*

अगर भगवान् तुम्हारे लिए कोई कठिनाई चाहते हैं तो विरोध मत करो। उसे आशीर्वाद के रूप में लो और वह सचमुच आशीर्वाद बन जायेगी।

*

भगवान् सर्व-शक्तिमान् कलपुतला नहीं है जिन्हें मनुष्य अपनी इच्छा का बटन दबाकर इधर-उधर घुमा सकें।

फिर भी भगवान् को समर्पण करने वालों में से अधिकतर 'उनसे' इसी की आशा रखते हैं।

२२ जून, १९६३

प्रेम

भागवत प्रेम

हम हमेशा 'भागवत प्रेम' में पूरा सहारा और पूरा आश्वासन पाते हैं।

७ मई, १९५४

*

जब तुम्हारा 'भागवत प्रेम' के साथ सम्पर्क हो जाता है तो तुम हर चीज में, हर परिस्थिति में इस प्रेम को देखते हो।

२० जुलाई, १९५४

*

'भागवत प्रेम' और 'ज्ञान' हमेशा हमारे विचारों और क्रियाओं पर शासन करें।

२४ जुलाई, १९५४

*

वर दे कि 'भागवत प्रेम' हमारे हृदय में परम 'स्वामी' बनकर निवास करे और 'भागवत ज्ञान' हमारे विचारों को कभी न छोड़े।

२९ अक्तूबर, १९५४

*

'भागवत प्रेम' सबमें वह शान्ति और सन्तोष ला सकता है जो कृपालुता से आते हैं।

२७ नवम्बर, १९५४

*

'भागवत प्रेम' शाश्वत सत्य है।

२१ जुलाई, १९५५

*

'भागवत प्रेम' परम 'सत्य' का सार है और मानवीय गड़बड़ों से प्रभावित नहीं हो सकता।

एक पुरानी कैल्डियन गाथा[1]

बहुत पहले, बहुत समय पहले, रेगिस्तान में, जो अब अरब है, एक भागवत सत्ता ने पृथ्वी को 'परम प्रभु' के प्रति जगाने के लिए अवतार लिया था। जैसी कि आशा की जाती है, मनुष्यों ने उस पर अत्याचार किये, उसे गलत समझा, उस पर सन्देह किया और उसे खदेड़ा। आततायियों द्वारा बुरी तरह जख्मी होकर वह अकेले में, शान्ति के साथ मरना चाहती थी ताकि उसका काम पूरा हो सके; और उनके द्वारा खदेड़े जाने पर वह भाग खड़ी हुई। अचानक विस्तृत बंजर भूमि पर छोटी-सी अनार की झाड़ी प्रकट हुई। 'परित्राता' अपने शरीर को शान्ति में छोड़ने के लिए उसकी नीची शाखाओं में छिप गया; और तुरन्त वह झाड़ी अद्‌भुत रूप से फैल गयी, उसने अपने-आपको बढ़ा लिया, विस्तृत कर लिया, इस तरह से घनी और प्रचुर बन गयी कि जब पीछा करने वाले वहां से गुजरे तो उन्हें इसकी आशंका तक नहीं हुई कि 'जिसका' वे पीछा कर रहे थे वह यहां छिपा है और वे अपने रास्ते पर चलते चले गये।

जब बूंद-बूंद करके पवित्र रक्त मिट्टी को उर्वर बनाता हुआ गिरा तो झाड़ी ने अपने-आपको अद्‌भुत फूलों से, बड़े-बड़े लाल फूलों से ढक लिया—पंखुड़ियों का गुच्छा, रक्त की असंख्य बूंदें...

ये पुष्प, हमारे लिए 'भागवत प्रेम' की अभिव्यक्ति करते उसे अपने में समाये हैं।

१४ नवम्बर, १९५५

*

कल सुबह मैंने "भागवत प्रेम" की पंखुड़ियां बांटी थीं। उससे पहले की रात यहां, साल की सबसे अंधेरी रात थी और भारत में यह बहुत बड़ा

[1] १९५५ का काली पूजा का सन्देश।

उत्सव होता है। इसका सच्चा अर्थ यह है कि समस्त अभिव्यक्ति के आधार और अन्तस्तल में, वहां भी जहां वह एकदम, पूरी तरह से निश्चेतन दीखती हो, 'भागवत प्रेम' विद्यमान होता है।

*

जब 'चेतना' अपने 'मूल स्रोत' से अलग होकर 'निश्चेतना' बन गयी, तो 'मूल स्रोत' ने 'निश्चेतना' की गहराइयों से 'चेतना' को फिर से जगाने के लिए और फिर से 'परम मूल स्रोत' के साथ उसका सम्पर्क जोड़ने के लिए 'प्रेम' को प्रकट किया।

कहा जा सकता है कि मूल रूप में प्रेम आकर्षण की परम शक्ति है जो उत्तरस्वरूप पूर्ण आत्मदान की अनिवार्य चाह को जगाती है, यह पूर्ण विलयन की ललक के दो छोर हैं।

व्यक्ति की रचना से पृथक्ता के भाव की जो खाई बन जाती है उस पर कोई और गतिविधि इससे ज्यादा अच्छी तरह या ज्यादा निश्चित रूप में पुल नहीं बना सकती। यह आवश्यक था कि जिसे अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया गया था उसे अपने में वापिस लाया जाये, किन्तु लाया जाये इस भांति रची गयी सृष्टि को नष्ट किये बिना।

इसीलिए प्रेम प्रकट हुआ। ऐक्य की अप्रतिरोध्य शक्ति है यह।

*

जब नानबाई (बेकरीवाला) अपने गुंधे आटे को उठाना चाहता है तो वह उसमें कुछ खमीर डालता है और अन्दर-ही-अन्दर से परिवर्तन शुरू होता है।

भगवान् जब 'जड़-पदार्थ' को जगाना चाहते थे, उसे जगाकर भगवान् की ओर उठाना चाहते थे तो उन्होंने 'अपने-आपको' प्रेम के रूप में 'जड़-द्रव्य' में डाला और अन्दर-ही-अन्दर से रूपान्तर हो रहा है।

तो, किसी संगठन के अन्दर रहकर ही तुम उसे प्रबुद्ध होने और दिव्य सत्य की ओर उठने में सहायता दे सकते हो।

१७ जनवरी, १९६५

*

चेतना एक अवस्था और सामर्थ्य है।

प्रेम एक शक्ति और क्रिया है।

*

भगवान् को सभी मनुष्यों के साथ एक समान प्रेम है लेकिन अधिकतर लोगों की चेतना का धुंधलापन उन्हें इस 'दिव्य प्रेम' को देखने से रोकता है।

'सत्य' अद्भुत है। हमारी धारणा ही उसे विकृत बनाती है।

२६ नवम्बर, १९७१

*

सिर्फ वही जो प्रेम करता है, प्रेम को पहचान सकता है। जो अपने-आपको सच्चे निष्कपट प्रेम के साथ देने में असमर्थ हों, वे कभी कहीं भी प्रेम को न पहचान पायेंगे और प्रेम जितना ही दिव्य होगा, यानी जितना निःस्वार्थ होगा वे उसे उतना ही कम पहचान सकेंगे।

*

'भागवत प्रेम' के बारे में सचेतन होने के लिए अन्य समस्त प्रेम का त्याग करना होगा।

भागवत प्रेम और मानव प्रेम

अधिक ऐकान्तिक रूप से 'भागवत प्रेम' का सहारा लो। जब मनुष्य 'भागवत प्रेम' पाये तो किसी भी मानव प्रेम का क्या मूल्य हो सकता है?

२ सितम्बर, १९३९

*

मानव प्रेम के पीछे हमेशा एक कटु स्वाद होता है—'भागवत प्रेम' ही है जो कभी निराश नहीं करता।

५ मई, १९४५

*

शोक मत करो। मानव प्रेम अस्थायी है। केवल 'भागवत प्रेम' ही कभी धोखा नहीं देता।

*

निश्चय ही व्यक्ति को प्रेम करने का अधिकार है और सच्चा प्रेम अपने अन्दर अपना आनन्द लिये होता है, लेकिन दुर्भाग्यवश मनुष्य अहंकारी होते हैं और तुरन्त अपने प्रेम के साथ बदले में *प्रेम पाने की कामना* को मिला देते हैं, यह कामना आध्यात्मिक सत्य के विपरीत और आवेशों और दुःखों का कारण होती है।

तुम जिससे प्रेम करते हो उसे भावनाओं की स्वतन्त्रता का अधिकार होना चाहिये और अगर तुम 'सत्य' चाहते हो तो तुम्हें यह अधिकार समझना और स्वीकार करना चाहिये। नहीं तो तुम्हारे दुःखों का कोई अन्त न होगा। अपने अहं पर विजय पाने और सच्चे जीवन के प्रति खुलने का यह सुअवसर है। अगर तुम इस प्रयास को करने का निश्चय करो तो मेरी सहायता तुम्हारे साथ होगी।

*

मानव प्रेम की आवश्यकता, जहां तक कि वह प्राकृतिक वृत्ति या प्राणिक आकर्षण के अधीन न हो, ऐसी आवश्यकता है जो पूरी तरह अपने लिए भगवान् को पाना चाहती है जो ऐकान्तिक रूप से पूरा-पूरा हमारे अधिकार में हो, ऐसा भगवान् जो हमारी निजी सम्पत्ति हो, जिसे हम अपने-आपको समग्र रूप से देते हैं लेकिन तभी जब हमारी भेंट का बदला चुकाया जाये।

अपने-आपको भगवान् के आकार में विस्तृत करने और विश्व के जितना विशाल प्रेम पाने के स्थान पर, व्यक्ति भगवान् के आकार को घटाकर स्वयं अपने आकार का बना लेना चाहता है और 'उनके' प्रेम को केवल अपने लिए चाहता है।

इसलिए, मानव प्रेम आत्मा की आवश्यकता नहीं बल्कि अहं को दी गयी एक रियायत है।

*

तुम्हें समस्या को सावधानी से देखने और ज्यादा शान्ति और निर्लिप्तता के साथ उसका सामना करने का समय देने के लिए मैंने उत्तर देना स्थगित किया है।

मैं तुमसे केवल एक बात कह सकती हूं कि दो मनुष्यों के सम्बन्ध में चाहे जैसी भी सच्ची निष्कपटता, सरलता और पवित्रता हो, वह न्यूनाधिक रूप से उनके लिए प्रत्यक्ष भागवत शक्ति और सहायता के द्वार बन्द कर देता है और उनकी क्षमताओं के अनुपात में उनके बल, प्रकाश और शक्ति को सीमित बना देता है।

मैं यह नहीं कह सकती कि तुम्हारे लिए यह बहुत वांछनीय है।

१५ फरवरी, १९५०

*

तुम अपने तथाकथित मानव प्रेम में अपनी शक्ति, ऊर्जा और क्षमता का बहुत-सा भाग खो देते हो। तुम्हारी प्रगति में यह बड़ी रुकावट है।†

*

अगर कहीं, तुम्हारी सत्ता के किसी भाग में अभी तक मानव स्नेह और प्रेम की आवश्यकता है, तो जीवन के अनुभव में से गुजरना ज्यादा अच्छा होगा; योग के लिए यह उत्तम तैयारी है।

*

स्नेह और 'प्रेम' के लिए प्यास मनुष्य की आवश्यकता है, लेकिन वह केवल तभी बुझ सकती है जब वह 'भगवान्' की ओर मुड़े। जब तक वह मनुष्यों में सन्तुष्टि पाना चाहती है तब तक हमेशा निराश या घायल होती रहेगी।

*

'प्रेम' की एक ऐसी प्यास होती है जिसे कोई भी मानवीय सम्बन्ध नहीं बुझा सकता। केवल 'भागवत प्रेम' ही उसे सन्तुष्ट कर सकता है।

४ दिसम्बर, १९५४

*

लोग हमेशा प्रेम के अधिकारों की बात कहते हैं लेकिन प्रेम का एकमात्र अधिकार है आत्मदान का अधिकार।

*

आत्मदान के बिना प्रेम होता ही नहीं; लेकिन मानव प्रेम में आत्मदान बहुत विरल होता है, वह स्वार्थों और मांगों से भरा रहता है।

१५ अगस्त, १९५५

*

जब तक अहं है, आदमी प्रेम नहीं कर सकता।

*

केवल प्रेम ही 'प्रेम' कर सकता है, केवल 'प्रेम' ही अहं पर विजय पा सकता है।

*

आत्म-प्रेम सबसे बड़ी रुकावट है।
'भागवत प्रेम' ही महान् उपचार है।

*

मनुष्य बाहरी तौर पर अकेला तभी होता है जब वह 'भागवत प्रेम' के प्रति बन्द होता है।

८ दिसम्बर, १९६०

*

तुम्हें अकेलापन इसलिए लगता है क्योंकि तुम प्रेम पाने की आवश्यकता का अनुभव करते हो। बिना मांग किये, केवल प्रेम के आनन्द के लिए (संसार का सबसे अद्भुत आनन्द) प्रेम करना सीखो और तुम फिर कभी अकेला अनुभव न करोगे।

११ अप्रैल, १९६६

*

प्रेम के सोपान

सबसे पहले आदमी केवल तभी प्रेम करता है जब उससे प्रेम किया जाता है।

फिर, आदमी सहज रूप से प्रेम करने लगता है, लेकिन बदले में प्रेम पाना चाहता है। फिर प्रेम पाये बिना भी प्रेम करता है लेकिन फिर भी वह अपने प्रेम की स्वीकृति की चाह रखता है।

और अन्त में, शुद्ध और सरल रूप से प्रेम करने के आनन्द के सिवाय और दूसरी किसी आवश्यकता के बिना प्रेम करता है।

१५ अप्रैल, १९६६

*

एक ऐसा प्रेम होता है जिसमें भाव अधिकाधिक ग्रहणशीलता और बढ़ते हुए ऐक्य के साथ 'भगवान्' की ओर मुड़ता है। उसे 'भगवान्' से जो मिलता है उसे वह औरों पर सचमुच कोई बदला चाहे बिना उंडेल देता है। अगर तुममें वह योग्यता हो तो यह प्रेम करने का उच्चतम और सर्वाधिक सन्तुष्टिदायी तरीका है।

*

तुम उस प्रेम से खुश नहीं होते जो कोई और तुम्हारे लिए अनुभव करता है। तुम्हें औरों के लिए जो प्रेम अनुभव होता है वह तुम्हें सुखी बनाता है; क्योंकि जो प्रेम तुम औरों को देते हो वह तुम्हें भगवान् से प्राप्त होता है और भगवान् अविरत और बिना चूके प्रेम करते हैं।

२० मार्च, १९६७

*

प्रेम ने धरती पर, मानव चेतना में जितने रूप लिये हैं वे सब सच्चे 'प्रेम' को पुनः पाने के भद्दे, विकृत और अपूर्ण प्रयास हैं।

२३ मार्च, १९६७

*

सच्चे प्रेम को आदान-प्रदान की कोई जरूरत नहीं होती, कोई आदान-प्रदान *हो ही नहीं सकता* क्योंकि 'प्रेम' केवल *एक* ही है, *एकमात्र* 'प्रेम', जिसका प्रेम करने के सिवाय कोई लक्ष्य ही नहीं है। विभाजन के जगत् में आदान-प्रदान की जरूरत मालूम होती है क्योंकि आदमी 'प्रेम' की बहुलता के भ्रम में रहता है लेकिन वस्तुतः केवल 'एक ही प्रेम' है और कहा जा सकता है कि हमेशा यही एकमात्र प्रेम अपने-आपको प्रत्युत्तर देता है।

१९ अप्रैल, १९६७

*

वस्तुतः केवल *एक* ही 'प्रेम' है—वैश्व और शाश्वत, उसी तरह जैसे 'चेतना' *एक* ही है—वैश्व और शाश्वत।

प्रत्यक्ष दीखने वाले सभी अन्तर व्यक्तीकरण और मानवीकरण द्वारा चढ़ाये गये रंग हैं। लेकिन ये हेर-फेर बिलकुल ऊपरी होते हैं। और 'चेतना' की तरह 'प्रेम' की "प्रकृति" अपरिवर्तनशील है।

२० अप्रैल, १९६७

*

जब तुम 'भागवत प्रेम' को पा लेते हो तो तुम सभी सत्ताओं में भगवान् से ही प्रेम करते हो। तब कोई और विभाजन नहीं रह जाता।

१ मई, १९६७

*

एक बार तुम 'भागवत प्रेम' को पा लो तो बाकी सब प्रेम जो, छद्मवेशों के सिवा कुछ नहीं हैं अपनी विकृतियों को छोड़कर शुद्ध हो जाते हैं और तब तुम हर व्यक्ति में, हर चीज में केवल भगवान् से ही प्रेम करते हो।

६ मई, १९६७

*

'सच्चा प्रेम' जो तुष्टि देता और आलोकित करता है, वह नहीं है जिसे तुम पाते हो, बल्कि वह है जो तुम देते हो।

और 'परम प्रेम' ऐसा प्रेम है जिसका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता, वह ऐसा प्रेम है जो प्रेम करता है क्योंकि वह प्रेम करने के सिवा कुछ कर ही नहीं सकता।

१५ मई, १९६८

*

प्रेम केवल एक ही है—'भागवत प्रेम'; और उस 'प्रेम' के बिना कोई सृष्टि न होती। सब कुछ उसी 'प्रेम' के कारण विद्यमान है। और जब हम *अपने निजी प्रेम* को खोजते हैं जिसका कोई अस्तित्व नहीं तब हम 'प्रेम' का अनुभव नहीं करते; उस एकमात्र 'प्रेम' का जो 'भागवत प्रेम' है और समस्त सृष्टि में रमा हुआ है।

५ मार्च, १९७०

*

जब चैत्य प्रेम करता है तो वह 'दिव्य प्रेम' के साथ प्रेम करता है।

जब तुम प्रेम करते हो तो तुम अपने अहं द्वारा घटाये और विकृत किये गये 'भागवत प्रेम' के साथ प्रेम करते हो, लेकिन फिर भी तत्त्व में वह 'भागवत प्रेम' ही रहता है।

भाषा की सुविधा के लिए तुम इसका प्रेम या उसका प्रेम कहते हो, लेकिन वह एक ही 'प्रेम' है जो विभिन्न मार्गों द्वारा अभिव्यक्त होता है।

तुम बरसों से जिस 'प्रेम' को पाना चाह रहे हो उसे पाने का संकेत मैंने तुम्हें दे दिया है; लेकिन यह मानसिक संकेत नहीं है, और जब तुम्हारा मन नीरव हो जायेगा केवल तभी तुम इसका अनुभव कर सकते हो जो मैं तुमसे कहना चाहती हूं।

आशीर्वाद।

१४ मार्च, १९७०

*

रही बात सच्चे प्रेम की, तो यह वह 'भागवत शक्ति' है जो चेतनाओं को भगवान् के साथ एक होने को प्रेरित करती है।

२२ मई, १९७१

*

सच्चा प्रेम अपनी तीव्रता में बहुत गभीर और अचंचल है; यह भी हो सकता है कि वह किन्हीं भी बाहरी संवेदनात्मक और स्नेहपूर्ण क्रियाओं में अभिव्यक्त न हो।

*

'भागवत प्रेम', सच्चा प्रेम अपना आनन्द और सन्तोष स्वयं में ही पा लेता है; उसे ग्रहण किये जाने या प्रशंसा पाने या उसमें हिस्सा बंटाये जाने की कोई आवश्यकता नहीं—वह प्रेम के लिए प्रेम करता है, जैसे फूल खिलता है।

इस प्रेम को अपने अन्दर अनुभव करना अक्षय सुख पाना है।

२१ जून, १९७१

*

प्रेम और काम-वासना

प्रेम लैंगिक सम्भोग नहीं है।

प्रेम प्राणिक आकर्षण और आदान-प्रदान नहीं है।

प्रेम स्नेह के लिए हृदय की भूख नहीं है।

प्रेम 'एकमेव' से आया शक्तिशाली स्पन्दन है और केवल बहुत शुद्ध और बहुत मजबूत व्यक्ति ही उसे पाने और अभिव्यक्त करने के योग्य होते हैं।

पवित्र होने का अर्थ है और किसी के नहीं केवल 'परम प्रभु' के प्रभाव के प्रति खुलना।

Love is not sexual intercourse

Love is not vital attraction and interchange.

Love is not the hearts hunger for affection.

Love is a mighty vibration coming straight from the One, and only the very pure and very strong are capable of receiving and manifesting it.

To be pure is to be open only to the Supreme's influence and to no other.

मैं नहीं चाहती कि प्रेम शब्द का काम-वासना के लिए प्रयोग करके उसे दूषित किया जाये, यह तो मनुष्य को पशु से विरासत में मिली है।

*

तुम मातृभाव को जो, भौतिक में वैश्व 'जननी' की शक्ति की अभिव्यक्ति होती है और प्रजनन की भौतिक क्रिया को बहुत मिलाजुला दे रहे हो। यह पूरी तरह से पाशविक चीज है और बहुधा कुत्सित भी होती है, और यह केवल एक तरीका है जो 'प्रकृति' को विभिन्न जातियों को बनाये रखने के लिए मिला है।

६ अक्तूबर, १९५२

*

लैंगिक सम्बन्ध अतीत के हैं, जब मनुष्य भगवान् की अपेक्षा पशु के अधिक निकट था। सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम जीवन से किस चीज की आशा रखते हो, लेकिन अगर तुम सचाई के साथ 'योग' करना चाहते हो, तो तुम्हें सभी लैंगिक क्रियाओं से दूर रहना चाहिये।

२३ मार्च, १९६८

*

जाति को वैसी बनाये रखने के लिए जैसी कि वह है, अपने शरीर को प्रकृति के प्रयोजन का अनुसरण करने के लिए सौंप देना और इसी शरीर को नयी जाति के सृजन के लिए एक सोपान बनाना, इन दोनों में से निर्णायक चुनाव करना होगा। दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते; हर क्षण तुम्हें निश्चय करना होगा कि तुम बीते कल की मानवता में बने रहना चाहते हो या आने वाले कल की अतिमानवता के सदस्य बनना चाहते हो।

*

किसी ने कहा है, "सेक्स मन का विषय है। क्रिया की कोई समस्या नहीं। सेक्स हमारे लिए एक समस्या है क्योंकि हम पर्याप्त रूप में सृजनात्मक नहीं हैं।"

सेक्स केवल मन ही नहीं बल्कि प्राणिक और भौतिक सत्ता की चीज भी नहीं है क्या? मूलरूप और यथार्थता में वह क्या है? और सत्ताओं से स्त्री-पुरुष के इस आकर्षण को पूरी तरह से कैसे मिटाया जा सकता है?

मुझे सेक्स अधिकतर शरीर का लगता है। तुम इस चीज को पूरी तरह तभी मिटा सकते हो जब निम्न गोलार्द्ध से निकलकर उच्चतर में पहुंच जाओ। सेक्स 'प्रकृति' की निचली गतिविधियों की चीज है और जब तक तुम उस 'प्रकृति' में बने रहोगे, ये गतिविधियां तुम्हारे अन्दर यान्त्रिक रूप से चलती रहेंगी।

इस समय मैं सेक्स की कठिनाई से बहुत ज्यादा परेशान हूं। मेरा परित्याग अधिक मूल्य नहीं रखता और मैं उलझा हुआ-सा रहता हूं।

जब तक वह सबल न हो जाये तुम्हें लगे रहना होगा।

१९३३

*

जब तुम सेक्स के बारे में बिलकुल न सोचोगे और नारी को नारी के रूप में नहीं बल्कि मानव सत्ता के रूप में देखोगे, तभी और केवल तभी मैं समझूंगी कि तुम स्वस्थ होने लगे हो।

*

काम-वासना अच्छा खाने से नहीं, गलत *सोचने* और उस पर एकाग्र होने से आती है। तुम उसके बारे में जितना कम सोचो उतना ही अच्छा। तुम जो नहीं चाहते उस पर नहीं, उसके विपरीत जो होना चाहते हो उस पर एकाग्र होओ।

७ जून, १९६४

*

कामावेगों के अधीन होने की जगह उन्हें उच्चतम संकल्प के अधीन रखना चाहिये।

*

आवेश : यह एक शक्ति है लेकिन है भयंकर और जब तक वह पूरी तरह भगवान् को अर्पित न हो तब तक उसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

*

मानव आवेशों का भगवान् के लिए प्रेम में परिवर्तन : भगवान् करे वे वास्तविक तथ्य बन जायें और उनकी प्रचुरता जगत् की रक्षा करेगी।

*

'भगवान्' के लिए पूर्ण आसक्ति प्राणिक आकर्षणों और आवेशों का स्थान ले लेती है।

'भगवान्' के लिए प्रेम

लोभ, लोभ, हमेशा लोभ... यह जड़-भौतिक प्रकृति का प्रत्युत्तर है।

भगवान् उसमें चाहे जिस तरीके से प्रकट हों, वे लोलुपता का विषय बन जाते हैं। अपने हाथ में कर लेने की लोलुपता, लूट लेने का प्रयास, शोषण करना, निचोड़ लेना, निगल जाना और अन्त में भगवान् को कुचल डालना—भागवत स्पर्श के प्रति जड़-भौतिक की यही ग्रहणशीलता है।

हे 'प्रभो', 'तू' मुक्तिदाता बनकर आता है और लोग 'तुझसे' छल-कपट करते हैं, 'तू' ऐक्य के लिए आता है, रूपान्तर के लिए आता है, सिद्धि के लिए आता है, और लोग केवल अवशोषण और स्वार्थमयी वृद्धि के बारे में सोचते हैं।

९ मार्च, १९३२

*

तुम्हें कभी थोड़े-बहुत से सन्तोष न होगा।

संक्षेप में, तुम जो चाहते हो वह है स्वयं अपने लिए एक भगवान् जिनका तुम्हें सन्तुष्ट करने के सिवाय और कोई काम न हो, ऐसे भगवान् जिन्हें तुम रात-दिन किसी भी समय भौतिक रूप से देख सको, जिनके साथ तुम फुरसत के साथ वाद-विवाद कर सको, जिनके साथ तुम रह सको, विवाह कर सको—क्योंकि अपने आदर्श रूप में विवाह और कुछ नहीं, बस यही है।

लेकिन ऐसा होने के लिए इन भगवान् को तुम्हारे अपने नाप का, अपने आकार का होना होगा।

और ऐसे भगवान् तुम्हें *तुम जैसे हो* उसकी ओर न ले जायें तो किस ओर ले जा सकते हैं? क्या अपनी सत्ता के सत्य में तुम सचमुच यही चाहते हो?

मैं इसे मानने से इन्कार करती हूं।

*

बालक, तुम मुझसे कहते हो "मुझसे प्रेम करने का अर्थ है जो मैं चाहता हूं वही करना।"

लेकिन मैं तुमसे कहती हूं कि भगवान् के सच्चे प्रेम का अर्थ है कि 'वे' जिससे प्रेम करते हैं उसके लिए अच्छे-से-अच्छा करना।

मई, १९४६

*

प्रत्येक व्यक्ति जब वह भगवान् की ओर मुड़ता है, तो इसी की मांग करता है कि 'उन्हें' ठीक वही करना चाहिये जिसकी वह मांग करे। जब कि भगवान् हर एक के लिए वही करते हैं जो उसके लिए सभी दृष्टिकोणों से उत्तम हो। लेकिन मनुष्य तो जब उसकी कामना सन्तुष्ट नहीं होती अपने अज्ञान और अन्धेपन में भगवान् के विरुद्ध विद्रोह करता है और 'उनसे' कहता है, "तुम मुझसे प्रेम नहीं करते।"

२८ मई, १९४६

*

तुम अपने भगवान् के बारे में कहते हो, "मैंने 'उनसे' इतना प्यार किया है फिर भी 'वे' मेरे साथ नहीं रहते!" लेकिन तुमने 'उन्हें' किस प्रकार का प्रेम दिया है? तत्त्वतः प्रेम एक ही है, ठीक उसी तरह जैसे चेतना एक है परन्तु अभिव्यक्ति में वह हर वैयक्तिक स्वभाव के द्वारा रंगा जाता है और भिन्न हो जाता है। अगर तुम अशुद्ध और अहंकारपूर्ण हो तो तुम्हारे अन्दर प्रेम भी अशुद्ध और अहंकारपूर्ण, कट्टर, सीमित, संकरा, महत्त्वाकांक्षी, अधिकार जमाने वाला, उग्र, ईर्ष्यालु, गंवारू, पाशविक और क्रूर होता है। क्या इस प्रकार का प्रेम भगवान् को भेंट किया जा सकता है? अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारा प्रेम तुम्हारे प्रेमपात्र के उपयुक्त हो, अगर तुम प्रेम का रस उसकी शाश्वत पूर्णता में लेना चाहते हो तो पूर्ण बनो, अपने अहंकार की सीमाओं को तोड़-फेंको, शाश्वतता में भाग लो और तब तुम हमेशा अपने प्रेमपात्र के निकट होगे क्योंकि तुम उनके जैसा बनते जाओगे।

२७ नवम्बर, १९५२

*

कहा जाता है कि तुम जिससे प्यार करते हो उसके जैसा बन जाते हो लेकिन भगवान् के बारे में यह भी सच है कि तुम 'उनके' साथ तभी हमेशा रह सकते हो जब 'उनके' जैसे बन जाओ।

*

तुम मानव प्रेम के द्वारा भगवान् से प्रेम करना नहीं सीख सकते, क्योंकि वह प्रेम और ही प्रकार का है। पहले अपने-आपको सच्चे निष्कपट भाव से भगवान् को देना सीखो उसके बाद प्रेम का आनन्द आयेगा। अपने-आपको सचाई के साथ देने से तुम्हारी सब कठिनाइयां गायब हो जायेंगी।

२८ दिसम्बर, १९५५

*

भगवान् के लिए सच्चा प्रेम है आत्मदान, जो मांगरहित, निवेदन और

समर्पण से भरपूर हो। वह कोई अधिकार नहीं जमाता, कोई शर्त नहीं रखता, कोई सौदेबाजी नहीं करता, ईर्ष्या, अहंकार या क्रोध की किसी उग्रता में रस नहीं लेता क्योंकि वह इन चीजों से बना ही नहीं।

*

जब सच्चा और पवित्र प्रेम हो, (भगवान् का प्रेम और भगवान् के लिए प्रेम) तो जो कुछ भी हो, उसका उपयोग ऐक्य को बढ़ाने और उसे पूर्ण करने के साधन स्वरूप होता है। यह चिन्ता, पश्चात्ताप और अवसाद के लिए कोई जगह नहीं छोड़ता, इसके विपरीत चेतना को विजय की निश्चिति से भर देता है।

*

भगवान् के लिए सर्वांगीण प्रेम : शुद्ध, पूर्ण और अटल प्रेम, यह ऐसा प्रेम है जो अपने-आपको हमेशा के लिए दे देता है।

*

भगवान् के लिए प्रज्ज्वलित प्रेम : समस्त वीरता और पूर्ण आहुति के लिए तैयार।

*

भगवान् से सचमुच प्यार करने के लिए हमें आसक्तियों से ऊपर उठना चाहिये।

सामान्य

प्रेम सभी के साथ है, समान रूप से हर एक की प्रगति के लिए काम कर रहा है—लेकिन यह विजयी उन्हीं में होता है जो इसकी परवाह करते हैं।

*

('विश्व निरामिषभोजी संस्थान' के नाम सन्देश)

केवल प्रेम ही घृणा और हिंसा पर विजय पा सकता है।

सदा और सभी परिस्थितियों में अपने द्वारा भागवत अनुकम्पा को अभिव्यक्त होने दो।

भागवत अनुकम्पा केवल उसी तक नहीं पहुंचती जो खाया जाता है, बल्कि उस पर भी होती है जो खाता है, केवल उत्पीड़ित पर ही नहीं होती, उत्पीड़क पर भी होती है।

१९५७

*

'भागवत प्रेम' अशुभ और क्रूर पर विजय पा सकता है—बाघ योगी पर हमला नहीं करता।

*

अनभिव्यक्त 'भागवत प्रेम': अद्‌भुत प्रेम की भव्यता जिसे भगवान् शुद्ध हृदय के लिए रखते हैं।

*

वस्तुतः, समस्त जीवन प्रेम है, यदि तुम उसे जीना जानो।

१३ जुलाई, १९६३

*

प्रत्येक हृदय के अन्दर मधुरता है।

कटुता है एक भ्रम जो 'भागवत प्रेम' के 'सूर्य' तले पिघल जाता है।

जुलाई, १९६६

शान्ति और नीरवता

स्थिरता

हमेशा स्थिर और शान्त रहने के लिए बहुत सावधान रहो और सम्पूर्ण समचित्तता को अधिकाधिक पूर्णता के साथ अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होने दो। अपने मन को बहुत ज्यादा सक्रिय होकर हो-हल्ले और विक्षोभ में न रहने दो, चीजों के ऊपरी आभास से ही परिणामों तक न जा पहुंचो। जल्दबाजी न करो, एकाग्र होकर स्थिरता में ही निश्चय करो।

*

माताजी, कई दिनों से मैं बड़ा कष्ट पा रहा हूं। आन्तरिक सत्ता कष्ट पाती है। वह हमेशा भागवत चेतना के साथ एक होना चाहती है परन्तु बाहरी चेतना के कारण हो नहीं पाती। माताजी, सचमुच मैं कष्ट पा रहा हूं।

तुम जानते हो कि स्थिर होना अनिवार्य है। तुम्हें स्थिर होने के लिए बहुत कोशिश करनी चाहिये। फिर स्थिरता में श्रीअरविन्द से प्रार्थना करो कि तुम्हें उचित चेतना प्रदान करें। पूरी सचाई के साथ, श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रार्थना करो। एक दिन तुम्हारी प्रार्थना जरूर स्वीकृत होगी।

*

कभी-कभी मैं बिलकुल स्थिर हो जाता हूं। मैं किसी से बातचीत नहीं करता, बस अपने अन्दर ही निवास करता हूं, भगवान् के बारे में सोचता रहता हूं। क्या ऐसी स्थिति को हमेशा बनाये रखना अच्छा है?

यह बहुत अच्छी स्थिति है जिसे बिलकुल आसानी से रखा जा सकता है लेकिन वह सच्ची होनी चाहिये; यानी वह स्थिरता का आभासमात्र न हो, वास्तविक और गहरी स्थिरता हो जो तुम्हें सहज रूप से मौन रखती है।

९ मार्च, १९३३

*

पहला कदम है पूर्ण स्थिरता और समचित्तता।

२८ सितम्बर, १९३७

*

तुम्हें कठिनाइयों के बीच भी स्थिर और अचंचल रहना सीखना चाहिये। सभी बाधाओं पर विजय पाने का यही तरीका है।

*

क्या 'स्थिरता' सभी समस्याओं का समाधान कर सकती है?

हां, लेकिन इसके लिए स्थिरता पूर्ण होनी चाहिये, सत्ता के सभी भागों में, ताकि दिव्य शक्ति उसके द्वारा अपने-आपको प्रकट कर सके।

१९६०

*

तुम्हें सम्पूर्ण स्थिरता बनाये रखनी चाहिये ताकि अनुभूति भयानक रूप से विकृत और कष्टदायक न बन जाये।

*

'भागवत शक्ति' केवल शान्ति और स्थिरता में ही अपने-आपको प्रकट करती और कार्य करती है।

२६ जून, १९६७

*

स्थिरता को फिर से पा लेना बहुत अच्छा है।

स्थिरता में ही शरीर अपनी ग्रहणशीलता को बढ़ा सकता है और उसे धारण करने की शक्ति प्राप्त करता है।

*

स्थिरता और तमस् में घपला मत करो। स्थिरता है आत्म-संयत शक्ति,

अचंचल और सचेतन ऊर्जा, आवेशों पर प्रभुत्व और अचेतन प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण। काम में स्थिरता निपुणता का स्रोत और पूर्णता की अनिवार्य शर्त है।

*

आन्तरिक विश्राम को बढ़ाओ। यह ऐसा विश्राम हो जो हमेशा, अधिकाधिक क्रियाशीलता में भी उपस्थित रहे और इतना स्थिर हो कि किसी चीज में उसे हिलाने की सामर्थ्य न हो—और तब तुम भागवत अभिव्यक्ति के पूर्ण यन्त्र बन जाओगे।

अचंचलता

निश्चय ही, अचंचलता तमस् नहीं है। वस्तुतः उचित वस्तु अचंचलता में ही की जा सकती है। मैं जिसे अचंचलता कहती हूं वह है, किसी भी चीज से क्षुब्ध हुए बिना काम करना और किसी भी चीज से क्षुब्ध हुए बिना हर चीज का अवलोकन करना।

*

अचंचल रहो। हमें किसी भी चीज से क्षुब्ध हुए बिना धीरज के साथ काम करते जाना है और अनिवार्य 'विजय' पर अटल, अचल श्रद्धा रखनी है।

*

अचंचलता, अचंचलता, स्थिर और एकाग्र बल, इतना अचंचल कि कोई चीज उसे हिला न सके—यह पूर्ण सिद्धि के लिए अनिवार्य आधार है।

*

आदमी सभी घटनाओं के आगे जितना ज्यादा अचंचल रहे, सभी परिस्थितियों में सम बना रहे, और जो कुछ भी हो उसकी उपस्थिति में

जितना शान्त रहे और अपने ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रखे उतनी ही अधिक उसने लक्ष्य की ओर प्रगति कर ली है।

*

अचंचलता में तुम अनुभव करोगे कि भागवत शक्ति, सहायता और संरक्षण हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

*

संकट के समय पूर्ण अचंचलता की जरूरत होती है।

*

अगर तुम पूरी तरह अचंचल और निर्भय रहो तो कोई संगीन चीज नहीं घट सकती।

*

तुम्हें जो एकमात्र चीज करनी है वह है अचंचल रहना, विक्षुब्ध न होना, एकमात्र भगवान् की ओर मुड़े रहना। बाकी सब 'उनके' हाथों में है।

१७ जुलाई, १९३५

*

करने लायक सबसे अच्छा काम यही है : अचंचल रहो, खुले रहो और पुकारो या अवतरण के लिए प्रतीक्षा करो।

*

हमेशा अचंचल, स्थिर और शान्त रहो और पूर्ण सचाई की पारदर्शकता द्वारा दिव्य 'शक्ति' को अपनी चेतना में काम करने दो।

६ जून, १९३७

*

केवल अचंचलता और शान्ति में ही तुम जान सकते हो कि करने

लायक सबसे अच्छी चीज क्या है।

३ नवम्बर, १९३७

*

तूफान समुद्र की सतह पर ही है, गहराइयों में सब कुछ अचंचल है।

२८ मई, १९५४

*

माताजी,

मैं एक ऐसी स्थिति में आ गया हूं जहां लगता है कि मैं कुछ भी नहीं समझता। मेरे पास शब्दों या विचारों की या समझ की कमी नहीं है, कमी है 'वास्तविकता' के सत्य के भाव की, 'सत्ता' और दिग्दर्शन की शक्ति की। यह जरा भी सुखद स्थिति नहीं है।

कल रात दस और ग्यारह के बीच तुमने यह सब मुझसे कहा था और चूंकि तुम कुछ बेचैन थे इसलिए मैंने तुमसे कहा, "सबसे पहले तुम्हें *अचंचल होना चाहिये।*" सारी चीज *बहुत स्पष्ट* थी, और मैं तुम्हारे विचार की शक्ति की सराहना करती हूं लेकिन मैं *अचंचल* और *स्थिर* होने की आवश्यकता पर जोर देती हूं। *यह अनिवार्य है।*

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२१ जून, १९६२

*

उद्विग्न मत होओ।

अचंचल रहो और सब कुछ ठीक हो जायेगा।

प्रेम और आशीर्वाद।

१४ मई, १९६७

*

आध्यात्मिक शक्तियां अचंचलता, शान्ति और नीरवता में काम करती हैं।

सारी उद्विग्नता और उत्तेजना विरोधी प्रभाव से आती हैं।

फरवरी, १९७१

*

सच्ची 'शक्ति' हमेशा अचंचल होती है। बेचैनी, उत्तेजना, अधीरता दुर्बलता और अपूर्णता के निश्चित लक्षण हैं।

*

अचंचल रहो, अपने-आपको अनासक्त करके साक्षी की तरह अवलोकन करने की कोशिश करो, आवेश में आकर क्रिया करने की समस्त सम्भावना को रोकने की कोशिश करो।

*

तुम्हें बाहरी परिस्थितियों में अचंचलता की खोज नहीं करनी चाहिये, वह तुम्हारे अन्दर है। सत्ता की गहराइयों के अन्दर एक ऐसी शान्ति है जो समस्त सत्ता में, शरीर तक में अचंचलता लाती है—अगर तुम उसे लाने दो।

तुम्हें उस शान्ति की खोज करनी चाहिये और तब तुम्हें वह अचंचलता मिल जायेगी जिसकी तुम्हें चाह है।

*

अचंचलता हमेशा अच्छी होती है, सच्ची और स्थायी प्रगति के लिए अनिवार्य भी होती है।

आशीर्वाद।

२१ अक्तूबर, १९७२

*

शान्ति

शान्ति असीम होनी चाहिये, अचंचलता गहरी और निश्चल, स्थिरता अटल और भगवान् पर विश्वास हमेशा बढ़ने वाला।

*

स्थिर, प्रबल और निरन्तर शान्ति द्वारा ही सच्ची विजयें पायी जा सकती हैं।

*

सुस्थिरता और शान्ति में ही तुम यह जान सकते हो कि करने के लिए सबसे अच्छी चीज क्या है।

*

सचमुच शान्ति की बड़ी सख्त जरूरत है—शान्ति के बिना सरल-से-सरल बात भी बड़ी गड़बड़ पैदा करती है।

*

अगर तुम्हारे अपने हृदय में शान्ति न हो तो तुम उसे और कहीं भी न पा सकोगे।

*

अगर तुम अन्दर से शान्ति की मांग करो तो वह आयेगी।

१६ अप्रैल, १९३३

*

जब हृदय और मन शान्त हों तो बाकी सब स्वभावतः आ जाता है।

२६ जुलाई, १९३६

*

पवित्र मन की शान्ति से बढ़कर कोई और शान्ति नहीं है।

There is no greater peace
than that of a pure mind

*

मन को दिलासा : नीरव शान्ति।

*

विशाल शान्ति और स्थिरता मौजूद हैं, वे तैयार हैं कि तुम उनके प्रति खुलो और उन्हें ग्रहण करो।

११ सितम्बर, १९३७

*

भगवान् की विशाल शान्ति को अपने अन्दर पूरी तरह से पैठने और अपनी सभी गतिविधियों का आरम्भ करने दो।

*

तुम्हारे अन्दर 'शान्ति' अधिकाधिक अनवरत और पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो।

*

तुम्हारे हृदय और मन में भगवान् की शान्ति हमेशा राज करे।

८ मई, १९५४

*

तुम शान्ति और आन्तरिक नीरवता में, सतत दिव्य उपस्थिति के बारे में अधिकाधिक सचेतन होगे।

*

'शाश्वत' शान्ति और नीरवता में अभिव्यक्त होते हैं। किसी भी चीज को अपने को क्षुब्ध न करने दो और 'शाश्वत' प्रकट होंगे।

१२ मई, १९५४

*

सच्ची शक्ति अविचल शान्ति में ही मिल सकती है।

१३ जून, १९५४

*

शान्ति में ही ज्ञान और शक्ति सचमुच प्रभावशाली होते हैं।

*

हमारे हृदयों में सदा भगवान् की 'शान्ति' का निवास होना चाहिये।

११ सितम्बर, १९५४

*

पूर्णतम शान्ति, प्रसादभाव और समता में ही सब कुछ भगवान् होता है, वैसे ही जैसे भगवान् सब कुछ हैं।

२६ सितम्बर, १९५४

*

मन की शान्ति को अनुकूल परिस्थितियों द्वारा नहीं बल्कि आन्तरिक रूपान्तर द्वारा प्राप्त करना चाहिये।

१८ मार्च, १९६०

*

साधक भगवान् से ही शान्ति पाता है, ऐसी शान्ति जो बाहरी परिस्थितियों

से एकदम स्वतन्त्र होती है। भगवान् की ओर अधिक मुड़ो, वास्तविक आन्तरिक शान्ति के लिए अभीप्सा करो और तुम्हें बिना विघ्न-बाधा के अपना काम चलाते रहने के लिए काफी शान्ति मिल जायेगी।

आशीर्वाद।

*

शान्त रहो, भगवान् के कार्य-संचालन में विश्वास रखो।

१४ नवम्बर, १९६९

नीरवता

नीरवता: प्रगति के लिए आदर्श अवस्था।

*

नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है।

*

केवल नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है; *केवल नीरवता में* ही तुम किसी गलत चेष्टा का सुधार कर सकते हो, *केवल नीरवता में ही* तुम किसी और की सहायता कर सकते हो।

अगर तुमने किसी सत्य को पा लिया है या अपने अन्दर भूल को सुधार लिया है या कोई प्रगति की है तो उसके बारे में अपने गुरु के सिवा किसी और को बतलाना या लिखना उस प्रगति या सत्य को तुरन्त खो देना है।

*

नीरव सहायता ज्यादा प्रभावशाली और निश्चित मालूम होती है, अधिक स्थायी और ब्योरेवार होती है।

*

सर्वाधिक आदर-सम्मान नीरवता में है।

*

हृदय की नीरवता में तुम आदेश पाओगे।

*

हमारे हृदय की नीरवता में हमेशा शान्ति और आनन्द का निवास होता है।

२७ मई, १९५४

*

शान्त नीरवता में बल फिर से स्थापित हो जाता है।

१८ जून, १९५४

*

आओ, हम नीरव रहकर आराधना करें और गहरी एकाग्रता में भगवान् की वाणी सुनें।

१५ अक्तूबर, १९५४

*

चिन्तन की पूर्ण नीरवता में सब कुछ अनन्तता में फैलता जाता है और उस नीरवता की पूर्ण शान्ति में भगवान् 'अपनी' ज्योति की देदीप्यमान भव्यता के साथ प्रकट होते हैं।

२७ अक्तूबर, १९५४

*

हमें एकाग्रता और नीरवता में समुचित कार्य के लिए शक्ति जुटानी चाहिये।

८ नवम्बर, १९५४

*

कुछ नीरवताएं अन्तःप्रकाशी होती हैं और शब्दों की अपेक्षा अधिक व्यक्त कर सकती हैं।

ध्यान

हम कुछ क्षणों के लिए अपनी अन्तरात्मा के संग का रस लेते हुए नीरवता में मिल बैठे और हमने अपने आगे 'शाश्वतता' के दरवाजों को पूरी तरह खुलते देखा।

५ जनवरी, १९५५

*

नीरवता में ही अन्तरात्मा अपने-आपको सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकती है।

७ जून, १९५८

*

भगवान् के साथ पूर्ण तादात्म्य की नीरवता में सच्ची समझ प्राप्त होती है।

अक्तूबर, १९६९

*

कभी-कभी हम शब्दों द्वारा समझ सकते हैं परन्तु जानते नीरवता में ही हैं।

*

नीरवता : सत्ता की वह अवस्था जब वह भगवान् की बात सुनती है।

खुलापन और ग्रहणशीलता

खुलापन

खुलापन शक्ति और प्रभाव को ग्रहण करने और प्रगति के लिए उसका उपयोग करने के लिए संकल्प है; परम चेतना के साथ सम्पर्क बनाये रखने की सतत अभीप्सा है; यह श्रद्धा है कि शक्ति और चेतना हमेशा तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अन्दर हैं और बस तुम्हें इतना ही करना है कि उन्हें ग्रहण करने के रास्ते में किसी भी चीज को बाधक न बनने दो।

*

उद्‌घाटन चेतना का वह निस्तार है जिससे चेतना 'भागवत प्रकाश' और 'भागवत शक्ति' की क्रियाओं को अपने अन्दर स्वीकार करना शुरू करती है।

*

उस चेतना के प्रति खुलो जो तुम्हारे ऊपर और तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है और हमेशा यथासम्भव अचंचल और शान्त रहो।

*

मैं प्रार्थना करता हूं कि अहं के किसी भी हस्तक्षेप के या बाधा के बिना मैं सचेतन रूप से और निष्कपटता के साथ आपकी सेवा करूं, और सब चीजों में आपके द्वारा प्रेरित होऊं।

अपने-आपको अधिकाधिक परम चेतना की ओर खोलो और तुम्हें प्रेरणा मिलेगी।

९ मई, १९३४

*

'भागवत प्रकाश' के प्रति उद्घाटन बलप्रयोग द्वारा नहीं किया जा सकता।

१२ जून, १९३९

*

"प्रेम और प्रकाश की ओर अधिक खुलना" मैं तुम्हारे पिछले पत्र का ठीक यही उत्तर भेजती हूं। चेतना में अधिक ऊंचे उठो, अधिक विशालता के साथ प्रेम करो, प्रकाश के प्रति खुलो—सभी भटकनें विलीन हो जायेंगी। योग करने के लिए तुम्हें संसार के जितना विशाल और व्यापक होना चाहिये।

२ अगस्त, १९६२

*

अगर तुम अपने-आपको परम शक्ति और परम सहायता के प्रति खोलो तो *जरा भी थकान* न आयेगी।

१४ दिसम्बर, १९६३

*

उद्घाटन : सभी क्षेत्रों में सहायता निरन्तर रहती है। उससे किस तरह लाभ उठाया जाये यह हमें सीखना होगा।

*

भगवान् के प्रति सत्ता का सर्वांगीण उद्घाटन : आरोहण का पहला सोपान।

विशालता

विश्व के छोर तक... और उससे भी परे अपने-आपको विस्तृत करो। हमेशा प्रगति की सभी आवश्यकताओं का जोखिम उठाओ और परम

ऐक्य के परमानन्द में उन्हें हल करो। तब तुम भगवान् हो जाओगे।

१३ नवम्बर, १९५७

*

शक्ति को नीचे उतारकर उसे क्षुद्र मानव सत्ता की संकीर्णता में बलपूर्वक प्रविष्ट करवाने की अपेक्षा यथासम्भव अधिक-से-अधिक *विस्तृत* करना और विशालता के साथ खोलना कहीं अधिक प्रभावशाली होता है।

७ दिसम्बर, १९६४

नमनीयता

नमनीयता : अपेक्षित प्रगति के लिए हमेशा तैयार।

ग्रहणशीलता

ग्रहणशीलता भागवत कार्य को स्वीकार करने और अपने अन्दर धारण करने की क्षमता है।

*

ग्रहणशीलता : भागवत संकल्प के प्रति सचेतन और उसे समर्पित होती है।

*

सर्वांगीण ग्रहणशीलता : सारी सत्ता 'भागवत संकल्प' के प्रति सचेतन होती है और उसकी आज्ञा का पालन करती है।

*

चैत्य ग्रहणशीलता : ऊपर उठती हुई शक्ति को चैत्य आनन्द के साथ उत्तर देता है।

*

मानसिक ग्रहणशीलता : सीखने के लिए हमेशा तैयार।

*

भावनात्मक ग्रहणशीलता : भावनाओं की दिव्य बनने की चाह।

*

प्राणिक ग्रहणशीलता केवल तभी आती है जब प्राण यह समझ जाता है कि उसे रूपान्तरित होना चाहिये।

प्राण भगवान् के लिए अभीप्सा में खिल उठता है।

*

भौतिक ग्रहणशीलता : जो भगवान् के सिवा और किसी के प्रति नहीं होनी चाहिये।

*

अतिमानसभावापन्न ग्रहणशीलता : आगामी कल की ग्रहणशीलता।

*

चेतना के विस्तार और अभीप्सा की अनन्यता से ग्रहणशीलता बढ़ती है।

२२ दिसम्बर, १९३४

*

विद्रोह ग्रहणशीलता के द्वार बन्द कर देता है।

*

नये सिरे से भरे जाने के लिए बरतन को कभी तो खाली होना चाहिये।

जब हम अधिक महान् ग्रहणशीलता की तैयारी में होते हैं तब अपने-आपको खाली अनुभव करते हैं।

*

चेतना?
ग्रहणशील बनो—वह मौजूद है।
प्रेम और आशीर्वाद।

*

तुम जितना पाते हो उससे सन्तुष्ट रहने की कोशिश करो—क्योंकि यह *ग्रहणशीलता* का मामला है—मेरी मानो—लोग जितना ग्रहण कर सकते हैं मैं उससे *कहीं अधिक देती हूं*—और दो-तीन मिनटों में वे इतना पा सकते हैं कि वह महीने भर तक चले। लेकिन मन अपनी अज्ञानपूर्ण मांगों के साथ टपक पड़ता है और सारी चीज बिगड़ जाती है।

२९ जनवरी, १९६४

*

मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है; तो अगर तुम उसे अनुभव न करो तो इसका अर्थ है कि तुम उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो। यह तुम्हारी ग्रहणशीलता की कमी है और ग्रहणशीलता को बढ़ाना चाहिये; इसके लिए तुम्हें अपने-आपको खोलना चाहिये और तुम अपने-आपको तभी खोलते हो जब *अपने-आपको* देते हो। निश्चय ही तुम 'भागवत प्रेम' और शक्तियों को न्यूनाधिक सचेतन रूप से अपनी ओर खींचने का प्रयास कर रहे हो। यह तरीका बुरा है। बिना लेखा-जोखा किये, बदले में किसी चीज की आशा किये बिना अपने-आपको दे दो और तब तुम ग्रहण करने में समर्थ होगे।

*

हम कैसे जान सकते हैं कि हम ग्रहणशील हैं?

जब तुम्हें देने की ललक का अनुभव हो और 'भागवत' कार्य के लिए देने का आनन्द आये तो तुम विश्वास कर सकते हो कि तुम ग्रहणशील हो गये हो।

१२ जुलाई, १९६५

ग्रहणशील होना

ग्रहणशील होने का अर्थ है देने की चाह, भगवान् के कार्य के लिए वह सब दे देने का आनन्द जो तुम्हारे पास है, तुम जो कुछ हो और तुम जो कुछ करते हो।

पवित्रता और नम्रता

पवित्रता

शक्तियों में सबसे अच्छी शक्ति है पवित्रता।

*

पवित्रता है : भगवान् के प्रभाव के अतिरिक्त और किसी प्रभाव को स्वीकार न करना।

*

धरती पर सच्ची पवित्रता है उस तरह सोचना जैसे भगवान् सोचते हैं, उस तरह इच्छा करना जैसे भगवान् इच्छा करते हैं, उस तरह अनुभव करना जैसे भगवान् अनुभव करते हैं।

२४ सितम्बर, १९४५

*

अगर आदमी केवल भगवान् के लिए और भगवान् द्वारा ही जीता है तो पूर्ण पवित्रता आ जाती है।

*

पवित्रता पूर्ण सचाई है और यह तुम्हें तब तक नहीं मिल सकती जब तक तुम पूरी तरह भगवान् के अर्पित न हो।

*

माताजी बताइये मैं 'आपकी' सेवा को पवित्र और मानवीय अशुद्धियों से बिल्कुल बेदाग कैसे रख सकता हूं?

ऐसा चाहने और हमेशा उसके लिए अभीप्सा करने से।

*

पूर्ण पवित्रता : समस्त सत्ता अहंकार से मुक्त हो जाये।

*

पूर्ण पवित्रता की शक्ति : भगवान् के प्रभाव के अतिरिक्त और किसी चीज को स्वीकार न करने की शक्ति।

*

मानसिक पवित्रता : एक ऐसा दर्पण जो विकृत नहीं करता।

*

पूर्ण मानसिक पवित्रता : स्वच्छ दर्पण जो सदा भगवान् की ओर मुड़ा रहता है।

*

सर्वांगीण मानसिक पवित्रता : नीरव, सजग, ग्रहणशील, भगवान् पर एकाग्र—यह पवित्रता पाने का पथ है।

*

प्राणिक पवित्रता : कामना के विलयन से आरम्भ होती है।

*

सामूहिक पवित्रता : एक बहुत मूल्यवान् उपलब्धि, जिसे पाना बहुत कठिन है।

*

दिव्य पवित्रता : पूर्ण सरलता में, उसे केवल होने में ही सुख मिलता है।

सरलता

सरलता में महान् सौन्दर्य है।

*

सर्वांगीण सरलता : सरलता जो पूर्ण सचाई का परिणाम है।

*

आध्यात्मिकता परम सरलता है।

६ मार्च, १९७१

*

सच्ची आध्यात्मिकता बहुत सरल होती है।

६ मार्च, १९७१

*

To express Harmony
of all Things
Simplicity
is the best.

'समस्वरता' प्रकट करने के लिए सभी चीजों में 'सरलता' सबसे अच्छी है।

*

नम्रता और विनय

नम्रता : अपनी सरलता में सराहनीय।

*

महान् सत्ताएं हमेशा सबसे अधिक सरल और विनयशील होती हैं।

*

अपना उचित मूल्यांकन : सरल और विनयशील, अपने-आपको आगे धकेलने की कोशिश नहीं करता।

*

विनयशीलता अपनी ही सौम्यता से सन्तुष्ट रहती है और अपनी ओर ध्यान नहीं खींचती।

*

हम योग-पथ पर जितना आगे बढ़ते हैं उतने ही विनयशील बनते जाते हैं और उतना ही अधिक यह देखते हैं कि जो करना बाकी है उसकी तुलना में हमने कुछ भी नहीं किया है।

४ जून, १९५६

*

हमें यह सीखना चाहिये कि हमने चाहे जितना प्रयास, चाहे जितना संघर्ष किया हो, चाहे जितनी विजय पायी हो, हम जिस पथ को पूरा कर चुके हैं वह, अभी जिस पर चलना बाकी है उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है।

*

अपने-आपको बड़ा या छोटा, बहुत महत्त्वपूर्ण या एकदम नगण्य न समझो क्योंकि हम अपने-आपमें कुछ भी नहीं हैं। हमें भगवान् जो बनाना

चाहते हैं वही बनने के लिए जीना चाहिये।

*

तुम बहुत बुद्धिमान् होते जा रहे हो और महसूस कर पा रहे हो कि हम कुछ नहीं हैं, हम कुछ नहीं जानते, हम कुछ नहीं कर सकते। केवल 'परम प्रभु' जानते हैं, करते हैं और *हैं*।

सच्ची नम्रता इसमें है कि तुम यह जानो कि केवल 'परम चेतना', 'परम संकल्प' का ही अस्तित्व है और 'मैं' *नहीं हूं*।

*

नम्र होने का मन, प्राण और शरीर के लिए अर्थ है यह कभी न भूलना कि *भगवान् के बिना* वे कुछ नहीं जानते, कुछ नहीं हैं और कुछ नहीं कर सकते। भगवान् के बिना वे अज्ञान, अव्यवस्था और असमर्थता के सिवा कुछ नहीं हैं। केवल भगवान् ही 'सत्य', 'जीवन', 'शक्ति', 'प्रेम' और 'सुख-शान्ति' हैं।

अतः मन, प्राण और शरीर को हमेशा के लिए यह सीख लेना और अनुभव कर लेना चाहिये कि वे भगवान् को केवल उनके सार-तत्त्व में ही नहीं बल्कि उनकी क्रिया और अभिव्यक्ति में भी समझने या उनका मूल्यांकन करने में एकदम असमर्थ हैं।

यही एकमात्र नम्रता है और इसके साथ आती हैं अचंचलता और शान्ति।

और यही सब प्रकार के विरोधी आक्रमणों के आगे सबसे निश्चित ढाल है। वस्तुतः मनुष्य में 'विरोधी शक्ति' हमेशा घमण्ड के दरवाजे को खटखटाती है क्योंकि यही दरवाजा खुलकर उसे अन्दर आने देता है।

*

तुम्हारा व्यक्तिगत मूल्य या निजी उपलब्धि कुछ भी क्यों न हो, योग में पहला आवश्यक गुण है *नम्रता*।

*

सचमुच सच्ची नम्रता हमारा रक्षाकवच है—यह अहंकार के अनिवार्य विलयन के लिए सबसे निश्चित मार्ग है।

*

नम्रता और सच्चाई सबसे अच्छे रक्षाकवच हैं। उनके बिना एक-एक पग खतरनाक है, उनके साथ विजय निश्चित है।

कृतज्ञता और निष्ठा

कृतज्ञता

कृतज्ञता : तुम ही समस्त बन्द द्वारों को खोल देती हो और रक्षा करने वाली भागवत कृपा को गहरे पैठने देती हो।

कृतज्ञता

भगवान् से मिलने वाली कृपा को प्रेमपूर्ण मान्यता देना।

भगवान् ने तुम्हारे लिए जो कुछ किया है और कर रहे हैं उसके लिए विनम्र मान्यता।

भगवान् के प्रति सहज आभार का भाव जो, भगवान् तुम्हारे लिए जो कुछ कर रहे हैं उसके कम अयोग्य बनने के लिए भरसक प्रयत्न करवाता है।

*

ब्योरेवार कृतज्ञता : ऐसी कृतज्ञता जो हमें हमारे अन्दर भागवत कृपा की सब बारीकियों के प्रति जगाती है।

*

सम्पूर्ण कृतज्ञता : समस्त सत्ता अपने-आपको पूर्ण विश्वास के साथ 'प्रभु' के अर्पण करती है।

*

मानसिक कृतज्ञता : जो कुछ उसकी प्रगति का कारण है उसके लिए मन की कृतज्ञता।

*

भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का सबसे अच्छा उपाय

है सरल भाव से प्रसन्न रहना।

२३ अप्रैल, १९५५

*

भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का चुपचाप प्रसन्न रहने से बढ़कर कोई और तरीका नहीं है।

*

मैं जो कुछ देती हूं उसे खुशी से स्वीकारना कभी स्वार्थपूर्ण नहीं होता। प्रसन्नतापूर्ण कृतज्ञता से बढ़कर अहंकार का कोई और उपचार नहीं है।

*

भगवान् तुम्हें जो कुछ देते हैं उसे खुशी से स्वीकार करो।

*

हठी आदमी कृतज्ञ नहीं हो सकता—क्योंकि जब वह मनचाही चीज पा लेता है तो वह उसका सारा श्रेय अपनी इच्छा-शक्ति को देता है और जब उसे ऐसी चीज मिलती है जिसे वह नहीं चाहता तो वह बुरी तरह कुढ़ता है और उसका दोष उस पर फेंकता है जिसे वह जिम्मेदार मानता है, चाहे वह भगवान् हो, मनुष्य हो या फिर 'प्रकृति'।

*

कृतज्ञता को बनाए रखना बहुत कठिन है। कुछ समय के लिए वह बड़े वेग से आती है और फिर लौट जाती है। भगवान् तुम्हारी कृतघ्नता के बावजूद सब कुछ सहते चले जाते हैं क्योंकि 'वे' हर चीज के 'क्यों, कैसे और किस कारण' से पूरी तरह परिचित हैं। 'वे' जानते हैं कि तुम अमुक चीज क्यों कर रहे हो। 'वे' पूरी क्रिया जानते हैं और इसीलिए उसे सह सकते हैं।†

*

किसी सत्ता का आभिजात्य उसकी कृतज्ञता की क्षमता से नापा जाता है।

निष्ठा

निष्ठा : हम तुम्हारे ऊपर भरोसा कर सकते हैं। हमें जब कभी तुम्हारी जरूरत होती है, तुम कभी धोखा नहीं देतीं।

*

अक्षय निष्ठा : तुमने जो कर्तव्य चुना है उससे तुम्हें कोई च्युत नहीं कर सकता।

यह है निष्ठा—केवल भगवान् द्वारा प्रेरित और निर्दिष्ट गतिविधियों के सिवा किसी और क्रिया को स्वीकार या अभिव्यक्त न करना।

*

भागवत इच्छा के प्रति सदा निष्ठापूर्ण बने रहने के लिए बल हमेशा तुम्हारे साथ है।

२ जून, १९३५

*

जगत् की वर्तमान अवस्था में भगवान् के प्रति पूरी-पूरी निष्ठा होना अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है।

*

निश्चय ही जब चारों ओर विश्वासघात फैला हो तो यही समय है जब तुम्हें सचमुच ईमानदार और निष्ठापूर्ण होना और तूफानों से अछूता और अविचलित रहना चाहिये।

*

निष्ठा शान्ति और संरक्षण के लिए शर्त है।

५ *अगस्त*, १९५५

*

भगवान् के प्रति अपने अर्पण में निष्ठा के बिना हृदय में शान्ति नहीं हो सकती।

*

भगवान् के प्रति निष्ठावान् रहो तो तुम निरन्तर शान्ति का रस पाओगे।

*

अपनी श्रद्धा के प्रति हमेशा निष्ठावान् रहो और तुम्हें कोई दुःख न होगा।

*

'भागवत कृपा' के आगे सरल, सच्चे और निष्ठावान् रहो, वह सदा तुम्हारे साथ रहती है।

२८ मई, १९५९

आज्ञापालन

भगवान् की इच्छा के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता होनी चाहिये।

*

पूर्ण आज्ञाकारिता : सत्ता के समस्त भागों में बिना किसी हिचकिचाहट या संकोच के, आनन्द के साथ भगवान् की आज्ञा का पालन।

*

आज्ञापालन करना सीखना अच्छा है। केवल भगवान् की आज्ञा मानना और भी अच्छा है।

संकल्प और अध्यवसाय

संकल्प

संकल्प : सम्पन्न कर देने की ओर मुड़ी हुई चेतना की शक्ति।

*

अध्यवसायी संकल्प सभी बाधाओं पर विजय पाता है।

*

तुम्हारी प्रकृति में जो नहीं है उसे पाने के लिए, जिसे तुम अभी तक नहीं जानते उसे जानने के लिए, जिस काम को तुम अभी तक नहीं कर सकते उसे कर सकने के लिए तुम्हारे अन्दर अटल संकल्प होना चाहिये।

तुम्हें व्यक्तिगत कामना के अभाव से आने वाले प्रकाश और शान्ति में निरन्तर प्रगति करनी चाहिये।

अगर तुम्हारे अन्दर दृढ़ संकल्प है तो बस उसे ठीक से दिशा देनी होगी; अगर तुम्हारे अन्दर संकल्प नहीं है तो पहले अपने अन्दर संकल्प का निर्माण करना होगा जो हमेशा बहुत समय लेता है और कभी-कभी कठिन भी होता है।

२२ मार्च, १९३४

*

हम सबसे अधिक सुन्दर विचारों के द्वारा भी प्रगति नहीं कर सकते अगर हमारे अन्दर यह निरन्तर संकल्प न हो कि वे विचार अधिक अच्छे अनुभवों, अधिक यथार्थ संवेदनाओं और अधिक अच्छी क्रियाओं के द्वारा हमारे अन्दर अभिव्यक्त हों।

१८ नवम्बर, १९५१

*

मेरी निम्न प्रकृति वही मूर्खतापूर्ण चीजें करती चली जा रही है। केवल आप ही उसे बदल सकती हैं। 'आपकी' क्या शर्तें हैं?

१. पूरा-पूरा *विश्वास* होना चाहिये कि तुम *बदल सकते हो*।
२. निम्न प्रकृति के बहानों को अस्वीकार करते हुए बदलने का संकल्प।
३. हर एक पतन के बावजूद संकल्प पर डटे रहना।
४. तुम्हें जो सहायता प्राप्त होती है उस पर अविचल श्रद्धा।

७ अप्रैल, १९६१

अग्नि

सच्ची 'अग्नि' हमेशा गभीर शान्ति में जलती है; यह सर्व-विजेता संकल्प की अग्नि है।

पूर्ण समचित्तता में इसे अपने अन्दर बढ़ने दो।

*

अग्नि : पवित्रता की लौ जिसे सभी अदृश्य लोकों के साथ सम्पर्क करने के लिए मार्गदर्शक होना चाहिये।

निश्चय

निश्चय : इसके विकास को कोई नहीं रोक सकता।

*

हमें अपने-आपको स्थिर निश्चय और अचल भरोसे में समेटना चाहिये।

९ नवम्बर, १९५४

*

अपने निश्चय में दृढ़ रहो सब कुछ ठीक हो जायेगा।

प्रेम।

२८ अक्तूबर, १९६६

*

अपने निश्चय को सम्पूर्ण और निरन्तर बनाये रखो और धीरे-धीरे तुम्हारा भविष्य तुम्हारे सामने प्रकट हो जायेगा।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ फरवरी, १९६९

दृढ़ निश्चय

सब आदतों से छुटकारा पाना कठिन है। उनका स्थिर निश्चय के साथ सामना करना चाहिये।

१९ जुलाई, १९५४

*

तुम्हें कोई चीज इसलिए नहीं छोड़ देनी चाहिये कि वह कठिन है, इसके विपरीत, चीज जितनी ज्यादा कठिन हो उसमें सफलता पाने के लिए मनुष्य को उतना ही ज्यादा कृतनिश्चय होना चाहिये।

१ जुलाई, १९५५

*

दृढ़ निश्चय जानता है कि वह क्या चाहता है और उसे कर लेता है।

स्थिर प्रयास

महत्त्वाकांक्षी योजनाएं साधारणतः धराशायी हो जाती हैं। धीरे-धीरे और दृढ़ता के साथ चलना अधिक अच्छा है।

*

स्थिर और धैर्यवान् बनो—सब कुछ ठीक हो जायेगा।

२२ मई, १९३४

*

तुम्हें अपनी अभीप्सा को स्थायी रखना और अपने प्रयास में धीरज धरना चाहिये, तब सफलता निश्चित होगी।

८ मई, १९३७

*

स्थिर प्रयास हमेशा महान् परिणाम लाते हैं।

२५ अप्रैल, १९५४

*

हम अपने प्रयास में स्थिर और अपने निश्चय में शान्त और दृढ़ रहें तो निश्चय ही लक्ष्य तक जा पहुंचेंगे।

२६ अक्तूबर, १९५४

*

ठीक दिशा में किये गये प्रयास सभी विघ्न-बाधाओं को तोड़ देते हैं।

अपनी अभीप्सा में स्थिर रहो तो वह निश्चय ही स्वीकृत होगी।

प्रेम।

३ अक्तूबर, १९६६

*

कोई प्रयास बेकार नहीं जाता, उत्तर हमेशा मिलता है भले वह दिखायी न दे।

७ दिसम्बर, १९६९

*

व्यक्तिगत प्रयास अपरिहार्य है, उसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। जब व्यक्तिगत प्रयास सच्चा हो तो सहायता हमेशा मिलती है।

१५ अक्तूबर, १९७२

*

प्रगति करने और भयंकर आदतों से छुटकारा पाने के सभी सच्चे प्रयासों को भागवत कृपा की सक्रिय सहायता द्वारा उत्तर और सहारा मिलता है—लेकिन प्रयास *सतत* रहना चाहिये और अभीप्सा *सच्ची*।

आग्रह

चिन्ता न करो, अपनी अभीप्सा में धैर्यशील और आग्रही रहो।

*

अपनी अभीप्सा में आग्रही रहो और वह पूरी होगी।

१२ सितम्बर, १९३४

*

अपनी अभीप्सा और अपने प्रयास में आग्रही रहो तो तुम सफल होगे।

१२ जून, १९७१

*

निरन्तरता : यह जानना कि अपने प्रयास में कैसे आग्रही रहा जाये।

अध्यवसाय

अध्यवसाय : बिलकुल अन्त तक जाने का निश्चय।

*

अध्यवसाय है कर्म में धैर्य।

*

अध्यवसाय सभी बाधाओं को तोड़ देता है।

*

डटे रहो तो सभी विघ्न-बाधाओं पर विजय पाओगे।

*

डटे रहो, सफलता का यह सबसे निश्चित मार्ग है। जिसे तुम पिछले वर्ष अपने अन्दर नहीं पा सके उसे इस वर्ष पा लोगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

*

What you are not able to do today, you will achieve tomorrow. Persevere and you shall conquer.

तुम जो आज नहीं कर पा रहे उसे कल चरितार्थ कर लोगे। डटे रहो और तुम्हारी विजय होगी।

*

अपनी अभीप्सा और अपने प्रयास में डटे रहो, अपने-आपको बाधाओं के कारण हतोत्साह न होने दो। शुरू में हमेशा ऐसा होता ही है लेकिन अगर तुम उनकी ओर ध्यान दिये बिना युद्ध जारी रखो तो एक दिन

आयेगा जब बाधाएं मार्ग छोड़ देंगी और कठिनाइयां गायब हो जायेंगी। मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ है लेकिन तुम्हें उसका उपयोग करना और स्वयं अपने साधनों की अपेक्षा उस पर निर्भर रहना सीखना चाहिये।

२९ मई, १९५६

*

अध्यवसाय द्वारा ही आदमी कठिनाइयों को जीत सकता है, उनसे भाग कर नहीं। जो डटा रहे उसका जीतना निश्चित है। विजय सबसे अधिक सहनशील को प्राप्त होती है। हमेशा अपना अच्छे-से-अच्छा करो और परिणामों को भगवान् देख लेंगे।

१९६१

*

हठ क्या है? हम उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग कैसे कर सकते हैं?

यह एक महान् सद्‌गुण अध्यवसाय का गलत उपयोग है।

उसका सदुपयोग करो, और वह ठीक रहेगा।

प्रगति की ओर अपने प्रयास में हठी रहो तो तुम्हारा हठ उपयोगी हो जायेगा।

२९ मई, १९७१

*

मैं तुमसे पहले ही कह चुकी हूं कि मेरी सहायता तुम्हारे साथ है और वह बनी रहेगी। तुम निश्चय ही लक्ष्य तक जा पहुंचोगे परन्तु तुम्हें बहुत अध्यवसायी होना चाहिये। परम सत्य के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना आसान नहीं है और यह समय की और बहुत सचाई और निष्कपटता की मांग करता है। लेकिन तुम मेरे पथ-प्रदर्शन और मेरी शक्ति पर विश्वास कर सकते हो।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१९७१

सहनशीलता

सहनशीलता : बिना थके और बिना आराम किये प्रयास के अन्तिम छोर तक जाना।

*

सहनशीलता है बिना अवसाद के सहन करने की क्षमता।

*

चलो, प्रसन्न हो जाओ, अगर हम डटे रहना और सहन करना जानें तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।

*

जानना और सहन कर सकना और डटे रह सकना, ये चीजें निःसन्देह अचल अटल आनन्द लाती हैं।

*

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है सतत शान्त सहनशीलता जो तुम्हारी प्रगति में किसी तरह की अस्तव्यस्तता या अवसाद का हस्तक्षेप नहीं होने देती। अभीप्सा की निष्कपटता विजय का आश्वासन है।

अचंचल सहनशीलता सफलता का निश्चित मार्ग है।

१४ जून, १९५४

*

जिन चीजों को हम आज चरितार्थ नहीं कर पाये उन्हें हम कल चरितार्थ कर पायेंगे। आवश्यकता है केवल सहने की।

२० अगस्त, १९५४

*

विजय उसी को मिलती है जो सबसे बढ़कर सहनशील है।

६ सितम्बर, १९५४

*

सहते चलो और तुम्हारी विजय होगी। विजय सबसे अधिक सहनशील के हाथों में आती है।

और भागवत कृपा और भागवत प्रेम के साथ कुछ भी असम्भव नहीं है।

मेरी शक्ति और मेरा प्रेम तुम्हारे साथ हैं।

संघर्ष के अन्त में होती है 'विजय'।

७ जनवरी, १९६६

*

नीरव सहनशीलता : शाश्वत प्रेम की सहायता से विजय की ओर अगला कदम।

*

भागवत कृपा की ओर खुलो और तुम सह सकोगे।

धैर्य

धैर्य : समस्त सिद्धि के लिए अनिवार्य।

*

धैर्य : परम सिद्धि के आगमन के लिए निरन्तर प्रतीक्षा करने की क्षमता।

*

निस्सन्देह संसिद्धि धैर्य का फल है।

*

धैर्य के साथ मनुष्य हमेशा पहुंच जाता है।

*

एक दिन में कोई अपने स्वभाव पर विजय नहीं पा सकता। लेकिन धैर्यपूर्ण और सहनशील संकल्प द्वारा 'विजय' आयेगी ही आयेगी।

*

धैर्य के साथ किसी भी कठिनाई को पार किया जा सकता है।

९ मार्च, १९३४

*

सब कुछ अपने समय पर आयेगा; विश्वासपूर्ण धीरज रखो, सब ठीक हो जायेगा।

९ अगस्त, १९३४

*

धीरज और अध्यवसाय के साथ सभी प्रार्थनाएं पूरी होती हैं।

४ फरवरी, १९३८

*

सचाई के साथ, प्रगति के लिए प्रयास करो, और धीरज के साथ, अपने प्रयास के फल की प्रतीक्षा करना सीखो।

२१ अक्तूबर, १९५१

*

प्रतीक्षा करना जानने का अर्थ है 'समय' को अपने साथ रखना।

*

मैं चौकस, नियमित और समय का पाबन्द होने के बारे में बहुत अधिक चिन्ता करता हूं। अगर मैं कभी इन चीजों में जरा भी चूक

जाऊं तो मैं अस्थिर हो उठता हूं और फिर यह अनुभव करता हूं कि मुझे और भी जल्दी करनी चाहिये। आन्तरिक जीवन के मामलों में भी मेरी यही प्रवृत्ति है। मेरा ख्याल है इस वृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये।

हां, अधीर और उत्तेजित नहीं होना चाहिये—तुम्हें सब कुछ शान्ति और अचंचलता के साथ बहुत अधिक उतावली के बिना करना चाहिये।

*

अगर हर अवस्था और हर मामले में मन अचंचल रहे तो धीरज की अधिक आसानी से वृद्धि होगी।

*

योग जल्दबाजी में नहीं किया जा सकता—इसके लिए *बहुत, बहुत* वर्षों की आवश्यकता होती है। अगर तुम "समय से बंधे" हो तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारा योग करने का कोई इरादा नहीं है—क्या ऐसी बात है?

आत्मा नहीं बल्कि अहं और उसका दर्प "पराजय और मान-मर्दन" का अनुभव करते हैं।

१० नवम्बर, १९६१

*

जब आदमी जल्दबाजी में नहीं होता तो बहुत अधिक तेजी से आगे बढ़ता है।

सचमुच आगे बढ़ने के लिए, मनुष्य को पूर्ण विश्वास के साथ यह अनुभव करना चाहिये कि उसके सामने शाश्वत काल पड़ा है।

४ जुलाई, १९६२

*

मधुर मां,

बहुधा अक्षमता की और 'आपसे' दूर रहने की भावना संकल्प को हतोत्साह करती है। मैं अपने रहने और अनुभव करने के तरीके से तंग आ गयी—और इसका कोई अन्त नहीं दीखता।

किसी वस्तु को चरितार्थ करने के लिए व्यक्ति को धीरज धरना होता है। जितनी विशाल और जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धि होती है, उतना ही अधिक महान् धीरज होना चाहिये।

आशीर्वाद।

१९ मई, १९६८

*

माताजी, जब मैं आपको लिखता हूं तो हमेशा यह "मैं" आगे होता है। मैं जानता हूं कि मुझे इस तरह लिखने का कोई अधिकार नहीं—यह कितना अहंकारपूर्ण है। मुझे पता नहीं इस कठिनाई को कैसे पार करूं। मुझे मालूम है कि यह कोई बड़ी कठिनाई नहीं है, लेकिन यह रास्ते के रोड़े की तरह है जिसे देखते हुए भी आदमी ठोकर खा जाता है।

लक्ष्य तक पहुंचने के लिए धैर्यवान् और हठी होना चहिये।

८ मई, १९७१

शूरता और वीरता

शूरता है सभी परिस्थितियों में परम सत्य के लिए डटे रह सकना, विरोध में भी उसकी घोषणा करना और जब कभी आवश्यकता हो तो उसके लिए युद्ध करना।

और हमेशा अपनी ऊंची-से-ऊंची चेतना के द्वारा काम करना।

*

शूरता :

१. हमेशा सबसे अधिक सुन्दर और सबसे अधिक उत्कृष्ट कार्य करना।

२. हमेशा अपनी चेतना की ऊंचाई से कार्य करना।

*

शूरता भरा कार्य हमेशा बाधाओं और विरोधों के डर के बिना, सुन्दर और सच्चे के लिए लड़ता है।

*

शूरता भरा विचार कठिनाई और अगम्यता से डरे बिना अज्ञात की विजय के लिए उठता है।

*

केवल वही कभी पराजित नहीं होता जो पराजित होना अस्वीकार करता है।

*

हम भगवान् के वीर सैनिक बनने की अभीप्सा करते हैं जिससे उनकी महिमा धरती पर प्रकट हो सके।

३० सितम्बर, १९५४

*

वीरता किसी से डरती नहीं और विरोधी के सामने डटे रहना जानती है।

निर्भयता

निर्भयता : किसी भी कठिनाई से डरे बिना, निर्भय होकर जो किया जाना चाहिये वही करना।

*

मानसिक निर्भयता : अपने मन को आगामी कल की पूर्णता को देखने योग्य बनाओ।

*

प्राणिक निर्भयता को तर्क-बुद्धि के आगे समर्पण करना चाहिये।

*

भौतिक निर्भयता भगवान् के प्रति अपने निवेदन में असम्भव को नहीं जानती।

*

सहज निर्भयता : भगवान् पर पूरे विश्वास के परिणामों में से एक।

साहस

साहस : निर्भय, वह समस्त संकटों का सामना करता है।

*

सर्वांगीण साहस : चाहे कोई क्षेत्र हो, चाहे जो संकट हो, मनोवृत्ति एक ही रहती है—स्थिर और आश्वस्त।

*

साहस आत्मा के आभिजात्य का एक चिह्न है।

लेकिन साहस को स्थिर, आत्म संयत, अपना स्वामी, उदार और शुभचिन्तक होना चाहिये।

*

सच्चे साहस में अधीरता, उतावलापन और दुःसाहस नहीं होता।

*

दुःसाहस को साहस और उदासीनता को धैर्य न समझ बैठो।

४ नवम्बर, १९५१

*

लाभदायक होने के लिए प्राणिक साहस को नियन्त्रित होना चाहिये।

*

अपने दोषों को पहचानना श्रेष्ठतम साहस है।

*

अपनी भूलों को पहचानने से अधिक श्रेष्ठ कोई साहस नहीं है।

१ मई, १९५४

*

हमेशा सच्चे बने रहने से बढ़कर कोई साहस नहीं है।

३१ जुलाई, १९५४

*

भगवान् के साथ पूरी तरह स्पष्ट और सच्चे होने का साहस रखो।

*

जिस किसी में साहस है वह औरों को साहस दे सकता है जैसे दीये

की ज्योति दूसरे दीये को जला सकती है।

*

यह बहुत जरूरी है कि जिनमें साहस है उनमें उनके लिए अतिरिक्त साहस भी हो जो साहसविहीन हैं।

*

बहुधा भौतिक साहस और सहनशक्ति की अपेक्षा नैतिक साहस और सहनशक्ति को पाना कहीं अधिक कठिन होता है।

२२ जुलाई, १९५५

बल, सामर्थ्य और शक्ति

सच्चा बल हमेशा शान्त होता है।

४ मई, १९५४

*

वे सब जो सचमुच बलवान् और शक्तिशाली होते हैं, सदा बहुत स्थिर रहते हैं। केवल दुर्बल ही बेचैन होते हैं। सच्ची स्थिरता सदा सामर्थ्य का लक्षण है।

*

संपूर्ण नीरवता : सच्चे सामर्थ्य का उद्‌गम।

*

किसी बाहरी शक्ति का मूल्य केवल उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में वह 'सत्य' की शक्ति की अभिव्यक्ति हो।

१६ जनवरी, १९५५

*

व्यक्तिगत शक्ति : अपनी क्षमता और क्रिया में सीमित।

*

प्रबुद्ध वैयक्तिक शक्ति : अपनी क्रिया में सीमित परन्तु बहुत अधिक क्षमतावाली।

*

मानसिकभावापन्न शक्ति : शक्ति जो उपयोग करने योग्य बन जाती है।

*

गतिशील शक्ति : प्रगति के लिए अनिवार्य।

सावधानी और संतुलन

जागरूकता : समस्त सच्ची प्रगति के लिए अनिवार्य।

*

हर एक मनुष्य के अन्दर पशु घात में रहता है जो रंचमात्र असावधानी होते ही झपटने के लिए तैयार रहता है। एकमात्र उपाय है सतत जागरूकता।

१८ अगस्त, १९५४

*

सावधानी : दुर्बलता के लिए बहुत उपयोगी क्योंकि दुर्बलता को सावधानी की जरूरत होती है। बल को उसकी जरूरत नहीं।

*

सामान्य बुद्धि : यह बहुत व्यावहारिक होती है और भूलों से बचाती है पर उसमें सामना करने की क्षमता नहीं होती।

*

मिताचार ने कभी किसी को नुकसान नहीं पहुंचाया।

*

समचित्तता : अटल शान्ति और स्थिरता।

*

समचित्तता की गहरी शान्ति में प्रेम शुद्ध और सतत ऐक्य के भाव में पूर्ण प्रस्फुटन में विकसित होगा।

५ अक्तूबर, १९३४

*

धन की हानि कम महत्त्व रखती है परन्तु सन्तुलन की हानि बहुत

अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है।

२० अगस्त, १९३५

*

सारी शरारत सन्तुलन के अभाव से आती है।

अतः हम सदा सर्वदा, सभी परिस्थितियों में अपना सन्तुलन बनाये रखें।

१० अगस्त, १९५४

*

पूर्ण सन्तुलन: बढ़ती हुई शान्ति के लिए सबसे अधिक आवश्यक शर्तों में से एक।

उत्साह और स्पष्टवादिता

उल्लासपूर्ण उत्साह : जीवन का सामना करने के लिए सबसे अच्छा तरीका।

*

सच्चा उत्साह शान्त सहनशीलता से भरा होता है।

*

हमारे साहस और हमारी सहनशीलता को हमारी आशा के जितना ही महान् होना चाहिये और हमारी आशा की कोई सीमा नहीं।

२ *अगस्त*, १९५४

*

स्थिर आशा मार्ग में बहुत सहायता देती है।

१५ *अगस्त*, १९५४

*

हमारी आशाएं कभी इतनी बड़ी नहीं होतीं कि वे अभिव्यक्त न हो सकें। हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते, जो हो न सके।

२२ *अगस्त*, १९५४

*
* *

स्पष्टवादिता अपने-आपको बिना समझौता किये अपने असली रूप में दिखाती है।

*
* *

पारदर्शिता केवल पूर्ण सचाई और निष्कपटता के परिणामस्वरूप ही आ सकती है।

*

ज्योतित पारदर्शिता : 'भागवत कृपा' का प्रभाव।

*

सम्पूर्ण पारदर्शिता : पूर्ण सद्भाव और सचाई का परिणाम।

*

समग्रता परम निष्कपटता है।

१७ दिसम्बर, १९७२

उदात्तता और सुरुचि

उदात्तता : भावनाओं या क्रिया में किसी भी तुच्छता के लिए अक्षमता।

*

आभिजात्य : नीचता और तुच्छता के लिए असमर्थ। वह गरिमा और प्रभुत्व के साथ अपनी बात दृढ़ता से कहता है।

*

गरिमा अपनी योग्यता का समर्थन करती है पर मांगती कुछ नहीं।

*

भावनाओं की गरिमा : अपनी भावनाओं को आन्तरिक 'देव' का विरोध न करने देना।

*

भौतिक में गरिमा : समस्त सौदेबाजी से ऊपर।

*

चैत्य गरिमा ऐसी किसी भी चीज को अस्वीकार करती है जो घटिया बनाती या भ्रष्ट करती है।

*

सुरुचि : धीरे-धीरे सत्ता से अपरिष्कृत का निष्कासन।

*

भावुकता : सत्ता की सुरुचि के परिणामों में से एक।

*

कोमलता : हमेशा दयामयी और सुख देने के लिए इच्छुक।

*

मनोहरता अक्षय मधुरता से घेर लेती और विजय पाती है।

*

मधुरता शोर मचाये बिना जीवन में अपना मुस्कुराता स्पर्श जोड़ देती है।

*

मधुरता स्वयं शक्तिशाली तब बनती है जब भगवान् की सेवा में लगी हो।

*

मुस्कान कठिनाइयों पर वही क्रिया करती है जो सूर्य बादलों पर—वह उन्हें छिन्न-भिन्न कर देती है।

*

मुझे नहीं लगता कि कोई जरूरत से ज्यादा मुस्कुरा सकता है। जो आदमी सभी परिस्थितियों में मुस्कुराना जानता है वह अन्तरात्मा की सच्ची समता के बहुत निकट है।

२२ सितम्बर, १९३४

*

सामान्य रूप से कहें तो मनुष्य एक पशु है जो अपने-आपको अतिशय गम्भीरता के साथ लेता है। सभी परिस्थितियों में अपने ऊपर मुस्कुराना जानना, अपने दुःखों और मोह-भंगों, महत्त्वाकांक्षाओं और पीड़ाओं, अपने तिरस्कार और विद्रोह पर मुस्कुरा सकना—यह स्वयं अपने ऊपर विजय पाने के लिए कितना सशक्त अस्त्र है।

७ नवम्बर, १९४६

*

हमेशा सभी परिस्थितियों में मुस्कुराना सीखो, अपने दुःखों और सुखों

पर, अपनी पीड़ाओं और अपनी आशाओं पर मुस्कुराना सीखो क्योंकि मुस्कान में आत्म-संयम की परम शक्ति है।

७ नवम्बर, १९४६

*

अगर तुम जीवन पर सदा मुस्कुरा सको तो जीवन भी सदा तुम पर मुस्कुरायेगा।

६ अक्तूबर, १९६०

*

अगर कोई सदा मुस्कुरा सके तो वह सदा युवा रहता है।

६ अक्तूबर, १९६०

*

शाश्वत स्मित : ऐसी दयालुता जो केवल भगवान् ही दे सकते हैं।

*

हम प्रायः यह उपदेश सुनते हैं : "अपने शत्रु से प्रेम करो और उसे देखकर मुस्कुराओ।" एक ढोंग या कूटनीतिभरी मुस्कान ले आना शायद आसान हो सकता है लेकिन ऐसे लोगों को सच्ची मुस्कान देना असम्भव है जो बार-बार अपने व्यवहार में बेईमान रहे हों। हम उन पर भरोसा नहीं कर सकते, उनसे किसी अच्छी बात की आशा नहीं कर सकते, उनके प्रति एकदम उदासीनता और अवहेलना स्वाभाविक हो जाती है। हम इससे कैसे पार पायें?

तुम अपने शत्रु के आगे तभी अकृत्रिम रूप से मुस्कुरा सकते हो जब तुम समस्त अपमान और दुर्व्यवहार से ऊपर हो। यौगिक वृत्ति के लिए यह प्राथमिक शर्त है।

*

शत्रु के आगे मुस्कुराना उसे निरस्त्र कर देना है।

सुख और हर्ष

प्रसन्नता

प्रसन्नता : 'प्रकृति' की आनन्दभरी मुस्कान।

*

प्रसन्नतापूर्ण प्रयास : भगवान् की ओर जाने के प्रयास में जो आनन्द मिलता है।

*

मानसिक प्रसन्नता : वह हर चीज में आनन्द लेना जानती है।

*

प्रसन्नतापूर्ण मन और शान्त हृदय रखो। कोई भी चीज तुम्हारी समचित्तता को न डिगा पाये। हर रोज लक्ष्य की ओर स्थिरता से मेरे साथ बढ़ने के लिए आवश्यक प्रगति करो।

२९ अक्तूबर, १९३४

सुख

सुखी हृदय : मुस्कुराता हुआ, शान्त, पूरा खुला हुआ, छायारहित।

*

यह कभी न भूलो कि नाटकीय होने की अपेक्षा, चुपचाप प्रसन्न रहकर तुम बहुत ज्यादा सहायक होते हो।

५ अक्तूबर, १९३२

*

प्रसन्न रहो मेरे वत्स, प्रगति का यह सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।

१२ अप्रैल, १९३४

*

सुख-शान्ति उतनी ही संक्रामक है जितनी उदासी—सच्ची गहरी सुख-शान्ति का संक्रमण लोगों तक पहुंचाने से ज्यादा उपयोगी और कोई चीज नहीं होती।

२५ अक्तूबर, १९३४

*

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होओगे।

११ जुलाई, १९३५

*

वस्तुतः सुखी है वह आदमी जो भगवान् से प्रेम करता है क्योंकि भगवान् हमेशा उसके साथ रहते हैं।

७ मार्च, १९३७

*

पिछले दिनों इतनी अधिक समस्याएं मेरे सामने रही हैं। पता नहीं, उन्हें हंसी-खुशी कैसे हल किया जाये?

'स्थायी' और 'सच्चा' सुख पाने का एकमात्र उपाय है 'भागवत कृपा' पर पूर्ण और ऐकान्तिक निर्भरता।

१९ अक्तूबर, १९४१

*

हमेशा अच्छे बने रहो तो तुम हमेशा खुश रहोगे।

१३ अक्तूबर, १९५१

*

हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।

२४ मई, १९५४

*

हम अपनी खुशी केवल भगवान् में ही खोजें।

५ जून, १९५४

*

जब भगवान् सच्चा आन्तरिक सुख प्रदान करते हैं तो दुनिया की किसी चीज में वह शक्ति नहीं होती जो उसे छीन सके।

५ *अक्तूबर*, १९५४

*

आध्यात्मिक सुख : स्थिर और मुस्कुराता हुआ, कोई चीज उसे क्षुब्ध नहीं कर सकती।

*

हमेशा याद रखो कि तुम जो सुख पाओगे वह उस सुख पर निर्भर होगा जो तुम देते हो।

२ जून, १९६३

*

तुम जो सुख पाते हो उसकी अपेक्षा तुम जो सुख देते हो वह तुम्हें ज्यादा सुखी बनाता है।

४ जुलाई, १९६५

*

अपने सुख के बारे में व्यस्त रहना दुःखी होने का सबसे निश्चित उपाय है।

*

अगर हम अपने सुख को अक्षुण्ण और पवित्र रखना चाहें तो हमें उसकी ओर प्रतिकूल विचारों को आकर्षित न करने पर पूरा ध्यान देना चाहिये।

*

हमेशा सुखी रहना, मेघविहीन और उतार-चढ़ावरहित सुख—अन्य सभी चीजों की अपेक्षा इसे पाना सबसे ज्यादा कठिन है।

हर्ष

हर्ष तब आता है जब तुम उचित वृत्ति अपनाओ।

*

हर्ष भागवत आदेश का पालन करने से आता है।

६ मई, १९३३

*

आध्यात्मिकता का हर्ष : सच्चे प्रयास का पुरस्कार।

*

एक बार तुम्हें आन्तरिक जीवन के हर्ष का चस्का लग जाये तो फिर तुम्हें कभी कोई और चीज सन्तुष्ट न करेगी।

*

ऐसा कोई हर्ष नहीं जिसकी तुलना अपने हृदय में शाश्वत 'उपस्थिति' की अनुभूति से की जा सकती हो।

४ जुलाई, १९५४

*

सम्पूर्ण शान्ति का हर्ष : स्थिर और शान्त, ऐसी मुस्कान जो निराश नहीं करती।

*

हर्ष की पुकार : यह विनम्र होती है और कभी-कदास ही अपनी आवाज सुनाती है।

परम आनन्द और आनन्द

भगवान् के आगे एक नवजात शिशु के समान होने से बढ़कर कोई आनन्द नहीं है।

१९ अक्तूबर, १९५४

*

भगवान् का अपरिवर्तनशील 'परम आनन्द' चेतना में अतुलनीय तीव्रताभरी प्रगति की प्रेरक शक्ति के रूप में अनूदित होता है।

यह शक्ति अत्यन्त बाह्य सत्ता में शान्त और विश्वासपूर्ण संकल्प के रूप में बदल जाती है जिसे कोई बाधा नहीं उलट सकती।

२०-२१ अक्तूबर, १९५४

*

परम आनन्द को जानना भगवान् को जानना है।

भगवान् को जानना परम आनन्द को जानना है।

वे घनिष्ठ और चिरस्थायी रूप में अमिट तादात्म्य के साथ गुंथे हुए हैं।

३० अगस्त, १९६७

सामञ्जस्य और सद्भावना

सामञ्जस्य

सामञ्जस्य : आओ, हम प्रयास करें कि वह दिन आये जब यही साधन हो और यही साध्य।

*

सामञ्जस्य मेरा लक्ष्य है और जो भी चीज सामञ्जस्य की ओर ले जाती है वह मुझे प्रसन्न करती है।

*

सर्वांगीण सामञ्जस्य : वस्तुओं के बीच सामञ्जस्य, लोगों के बीच सामञ्जस्य, परिस्थितियों का सामञ्जस्य और सबसे बढ़कर 'परम सत्य' की ओर अभिमुख सभी अभीप्साओं का सामञ्जस्य।

*

सामञ्जस्यपूर्ण सामूहिक अभीप्सा परिस्थितियों की दिशा को बदल सकती है।

*

सामूहिक सामञ्जस्य वह कार्य है जिसे 'भागवत चेतना' ने अपने हाथ में लिया है, केवल उसी में वह शक्ति है जो इसे चरितार्थ कर सके।

*

एक गहरी और सत्य चेतना है जिसमें सभी प्रेम तथा सामञ्जस्य के साथ मिल सकते हैं।

*

केवल भगवान् के साथ ऐक्य में और भगवान् के अन्दर ही सामञ्जस्य

और शान्ति की स्थापना हो सकती है।

२० जुलाई, १९३५

*

निश्चय ही हमें शान्ति और सामञ्जस्य की चाह करनी चाहिये और उसके लिए यथासम्भव अधिक-से-अधिक काम करना चाहिये—लेकिन उसके लिए उत्तम कार्यक्षेत्र हमेशा हमारे अन्दर होता है।

*

असामञ्जस्य के बाहरी कारणों की अपेक्षा अधिक खोज करो आन्तरिक कारणों की। अन्तर ही बाह्य पर शासन करता है।

४ जुलाई, १९६६

*

चिन्तित या अधीर मत होओ—सभी असामञ्जस्य विलीन हो जायेंगे, लेकिन ऐसा एक टिकी हुई ज्योतिर्मयी चेतना के सच्चे आधार पर होगा जिसमें अहं के खेलने के लिए कोई स्थान न हो।

*

सबकी सहमति के लिए हर एक को अपनी चेतना के शिखर तक उठना होगा : शिखरों पर ही सामञ्जस्य का सृजन होता है।

अप्रैल १९७०

*

तुम्हें अपनी चेतना में इतना ऊपर उठ जाना चाहिये कि वह विरोध पर छा जाये। यही हल है।

४ मार्च, १९७१

सहयोग

सहयोग : यह जानते हुए कि सहायता कैसे की जाये, सहायता देने के लिए हमेशा तैयार रहना।

*

सहयोग का यह अर्थ नहीं है कि सभी उस व्यक्ति की इच्छा पूरी करें जो उसकी मांग करता है। सच्चा सहयोग है, 'परम प्रभु की इच्छा' को अभिव्यक्त और चरितार्थ करने के लिए सभी व्यक्तिगत प्रयासों का अहंकारविहीन ऐक्य।

*

हमें प्रतियोगिता और संघर्ष के स्थान पर सहयोग और भ्रातृभाव की स्थापना करनी चाहिये।

२ जुलाई, १९५४

*

प्रतिद्वंद्विता और प्रतियोगिता के भाव के स्थान पर सहयोग और आपसी सहमति की सद्‌भावना रखो।

*

जब चीजें उल्टी होने लगें तभी अपनी सद्‌भावना और सच्चे सहयोग का भाव दिखाने का उत्तम अवसर होता है।

सद्‌भावना

वस्तुतः सभी चीजों में छिपी हुई सद्‌भावना अपने-आपको सभी स्थानों पर उस व्यक्ति के आगे प्रकट करती है जो अपनी चेतना में सद्‌भावना लिये रहता है।

यह अनुभव करने का रचनात्मक तरीका है जो सीधे 'भविष्य' की ओर ले जाता है।

*

तुम्हें अपने हृदय में निरन्तर सद्भावना और प्रेम बनाये रखना चाहिये और उन्हें सभी के ऊपर शान्ति और समता के साथ प्रवाहित होने देना चाहिये।

१६ दिसम्बर, १९६६

*

सभी के प्रति और सभी की ओर से सद्भावना शान्ति और सामञ्जस्य की नींव है।

१४ अगस्त, १९६९

*

सद्भावना : देखने में विनम्र, वह कभी शोर नहीं मचाती पर सदा उपयोगी होने के लिए तैयार रहती है।

*

मानसिक सद्भावना थोड़ा दिखावा करना पसन्द करती है पर है बहुत उपयोगी।

शुभचिन्ता

शुभचिन्ता ध्यान खींचे बिना जीवन को सुरभित बना देती है।

*

भगवान् से प्रेम करने और धरती पर 'उनकी' सेवा करने का सबसे अच्छा तरीका है अथक, स्पष्टदर्शी और व्यापक शुभ-चिन्ता जो सभी

व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो।

मेरा मतलब है विचारों और वाणी में सच्ची, निष्कपट और सहज शुभ चिन्ता, कामों में वह तथाकथित शुभचिन्ता नहीं जिसके साथ दया दिखाने वाली श्रेष्ठता का भयंकर भाव होता है जो मुख्य रूप से मानव दर्प के लिए मंच का काम देता है।

सहिष्णुता

सहिष्णुता बड़प्पन के भाव से भरी होती है, उसके स्थान पर होनी चाहिये पूरी सहानुभूति।

*

सहिष्णुता बुद्धिमत्ता की ओर मात्र पहला कदम है।

सह जाने की आवश्यकता अनुभव करने का मतलब है कि पसन्दें अभी भी विद्यमान हैं।

जो भागवत चेतना में निवास करता है वह सभी चीजों को पूर्ण समचित्तता के साथ देखता है।

९ अगस्त, १९६९

स्वाधीनता

स्वाधीनता क्या है?

स्वाधीनता है केवल भगवान् पर निर्भर रहना।

२८ मार्च, १९३२

*

अगर तुम्हारे अन्दर बलवान् और सचेतन संकल्प-शक्ति है और तुम्हारा संकल्प चैत्य पुरुष के इर्द-गिर्द केन्द्रित है तो तुम स्वाधीनता का रस पा सकते हो। अन्यथा तुम सभी बाहरी प्रभावों के दास रहते हो।

२४ अगस्त, १९५५

*

Freedom does not
come from outer
circumstances but
from inner liberation
Find your soul,
unite with it, let
it govern your life
and you will be free

blessings

स्वाधीनता बाहरी परिस्थितियों से नहीं, आन्तरिक मुक्ति से आती है।

अपनी अन्तरात्मा को खोजो, उसके साथ एक होओ, उसे अपने जीवन पर शासन करने दो तो तुम *स्वाधीन* हो जाओगे।

आशीर्वाद।

३१ अगस्त, १९६६

*

स्वाधीनता है केवल वही करना जो 'परम चेतना' हमसे करवाये।

और सभी हालतों में आदमी दास होता है, चाहे औरों की इच्छा का दास हो या परिपाटियों का, नैतिक विधानों का हो या प्राणिक आवेगों का, या मानसिक सनकों का, या फिर इन सबसे बढ़कर 'अहंकार' की कामनाओं का।

२१ सितम्बर, १९६९

*

स्वाधीनता का अर्थ अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता से कहीं अलग है। हमारे अन्दर आन्तरिक स्वाधीनता होनी चाहिये, और अगर वह हमारे पास हो तो उसे कोई हमसे छीन नहीं सकता।

*

सच्ची स्वाधीनता केवल वही होती है जो भागवत ऐक्य के द्वारा प्राप्त होती है।

तुम भगवान् के साथ केवल तभी एक हो सकते हो जब तुम अहं पर प्रभुत्व पा लो।

२६ जुलाई, १९७१

*

मुक्ति : अहं का लोप।

सत्य और वाणी

सत्य

सद्‌भावना रखनेवाले हर व्यक्ति में सत्य के लिए प्रयास होना चाहिये।

*

हमारे जीवन को 'सत्य के लिए प्रेम' और 'प्रकाश' के लिए प्यास द्वारा शासित होना चाहिये।

*

अगर व्यक्ति भगवान् के समीप रहना चाहता है तो उसके जीवन पर पूर्ण सत्यता का शासन होना चाहिये।

*

केवल 'वे' ही जो पूर्ण रूप से सत्यवादी हों मेरे सच्चे बालक हो सकते हैं।

१३ दिसम्बर, १९३३

*

आज से और हमेशा के लिए 'सत्य' का प्रकाश धरती पर जन्म ले।

२१ फरवरी, १९५३

*

'सत्य' का 'प्रकाश' जगत् के ऊपर मंडरा रहा है ताकि उसमें व्याप्त होकर उसका भविष्य गढ़े।

*

'सत्य' के ज्ञान द्वारा सभी चीजें रूपान्तरित होनी चाहियें।

६ मई, १९५४

*

'सत्य' को अपनी शक्ति मानो, 'सत्य' को अपना आश्रय मानो।

२८ अप्रैल, १९५४

*

प्रेम और हर्ष के साथ भगवान् के सत्य का अनुसरण करना एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है।

९ मई, १९५४

*

सत्य हमारे अन्दर है, हमें केवल उसके बारे में अवगत होना है।

१७ मई, १९५४

*

धन्य होगा वह दिन जब पृथ्वी 'सत्य' के प्रति जागकर, केवल भगवान् के लिए जियेगी।

२८ अगस्त, १९५४

*

'सत्य' तुम्हारे अन्दर है—लेकिन उसे चरितार्थ करने के लिए तुम्हें उसकी चाह करनी होगी।

२९ अगस्त, १९५४

*

भगवान् की 'इच्छा' है कि मन जाने और 'वे' कहते हैं, "जागो और 'सत्य' के बारे में सचेत होओ।"

२२ अक्तूबर, १९५४

*

'सत्य' के 'प्रभु' हमेशा तुम्हारे साथ रहें।

१७ सितम्बर, १९५८

*

'सत्य' का पुष्प तुम्हारे अन्दर खिले।

*

हम सबको सत्य की एकनिष्ठ सेना होना चाहिये।

३ नवम्बर, १९६५

*

हम 'सत्य' के लिए और अपनी सत्ता एवं अपने कार्य-कलाप में उसकी विजय के लिए अभीप्सा करते हैं।

१६ दिसम्बर, १९६७

*

'सत्य' को अपना स्वामी और पथप्रदर्शक बनने दो।

१६ दिसम्बर, १९६७

*

'सत्य' के प्रति अपने समर्पण को पूर्ण और स्थायी बनाओ।

*

सफलता की अपेक्षा सत्य के लिए अधिक उत्सुक होओ।

१२ फरवरी, १९६९

*

'सत्य' से चिपके रहो।

*

हे शाश्वत 'सत्य' की 'भव्यता'
मैं 'तेरा' आवाहन करती हूं।
मैं तुझे नमस्कार करती हूं, हे भावी कल के 'सूर्य'।

जुलाई, १९७१

*

परम 'प्रभो', 'शाश्वत सत्य'
हम केवल 'तेरी' ही आज्ञा मानें
और 'सत्य' के अनुसार जियें।

जून, १९७१

*

(उड़ीसा के 'रायगढ़ स्टडी सर्कल' के नाम सन्देश)

समय आ रहा है जब 'सत्य' दुनिया पर शासन करेगा।
क्या तुम उसे जल्दी लाने के लिए कार्य करोगे?
आशीर्वाद।

१९७१

*

आओ, हम सब बढ़ती हुई सचाई और निष्कपटता के साथ 'भागवत सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए कार्य करें।

३ मई, १९७२

*

Salute to the
advent of the Truth

'सत्य' के आगमन को नमस्कार।

मिथ्यात्व और सत्य

Falsehood is the great ally of Death.

मिथ्यात्व 'मृत्यु' का परम सखा है।

*

एक बार मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त हो जाये तो सभी कठिनाइयां चली जायेंगी।

*

क्या सभी मनुष्यों में मिथ्यात्व सदा 'सत्य' के साथ घुला-मिला नहीं रहता?

*

'सत्य' एक ही है परन्तु उसे प्रकट करने के प्रयास में उसे विकृत करने के तरीके लाखों हैं।

*

ढोंग और दिखावा अज्ञान द्वारा सत्य को दी जाने वाली श्रद्धांजलि है।

ढोंग और दिखावा निश्चेतना की चेतना के प्रति अभीप्सा के पहले चिह्न हैं।

*

साधना की प्रगति और तीव्रता के साथ-ही-साथ ढोंग और समझौते को बन्द करने की अनिवार्य आवश्यकता भी अधिकाधिक अनुभव होती है।

*

यह धरती अभी तक अज्ञान और मिथ्यात्व द्वारा शासित है। लेकिन 'सत्य' की अभिव्यक्ति का समय आ गया है।

९ अगस्त, १९५४

*

'सत्य' अपराजेय, अदम्य, सर्वशक्तिमान् हो, और कभी कहीं मिथ्यात्व के लिए कोई स्थान न छोड़े।

१९५६

*

जीवन ऐसा है!

संसार मिथ्यात्व का स्थान है और तुम सत्य की शान्ति को केवल भगवान् की नीरव गहराइयों में ही पा सकते हो।

१५ दिसम्बर, १९६४

*

सत्य मिथ्यात्व से बढ़कर बलवान् है। एक अमर 'शक्ति' जगत् का शासन करती है। उसके निश्चय हमेशा सफल होते हैं। उसके साथ मिल जाओ तो तुम अन्तिम विजय के बारे में निश्चित रहोगे।

*

'सत्य' की पूजा करो।

वह तुम्हें 'मिथ्यात्व' से मुक्त कर देगा।

*

जब मनुष्य मिथ्यात्व से ऊब जायेंगे जिसमें वे निवास करते हैं, तब संसार 'सत्य' के राज्य के लिए तैयार होगा।

१४ अगस्त, १९७१

*

मरने से पहले मिथ्यात्व अपने पूरे वेग से उठ रहा है।

फिर भी लोग केवल विध्वंस के पाठ को ही समझते हैं।

क्या मनुष्य अपनी आंखें सत्य की ओर खोलें उससे पहले विध्वंस को आना होगा?

अतः मैं सबसे प्रयास की मांग करती हूं ताकि उसे न आना पड़े।

केवल 'सत्य' ही बचा सकता है, शब्दों में सत्य, क्रिया में सत्य, इच्छा में सत्य, भावनाओं में सत्य। 'सत्य' की सेवा करने या फिर नष्ट हो जाने में चुनाव है।

२६ नवम्बर, १९७२

*

जो लोग मिथ्यात्व से पिंड छुड़ाने के लिए उत्सुक हैं
उनके लिए यह रहा एक उपाय :

अपने-आपको खुश करने की कोशिश न करो, औरों को खुश करने की कोशिश भी मत करो। केवल प्रभु को खुश करने की कोशिश करो।

क्योंकि केवल 'वे' ही 'सत्य' हैं। हम सब, हममें से हर एक मनुष्य अपने भौतिक शरीर में, प्रभु के ऊपर पड़ा हुआ मिथ्यात्व का लबादा है जो 'उन्हें' छिपाता है।

चूंकि 'वे' ही 'अपने' प्रति सच्चे हैं इसलिए हमें 'उन्हीं' पर एकाग्र होना चाहिये, मिथ्यात्व के लबादों पर नहीं।

*

मिथ्यात्व का बस एक ही समाधान है।

अपने अन्दर उस सबका उपचार करो जो हमारी चेतना में भागवत उपस्थिति का विरोध करता है।

३१ दिसम्बर, १९७२

*

आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् को अर्पण कर दें ताकि 'वे' उसे आनन्दभरे 'सत्य' में बदल दें।

सत्य मन के ऊपर है

सत्य शाश्वत रूप में उस सबके परे है जो हम उसके बारे में सोच या कह सकते हैं।

१० दिसम्बर, १९५४

*

सत्य को शब्दों में सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता, लेकिन उसे जिया जा सकता है—अगर मनुष्य पवित्र और पर्याप्त रूप से नमनीय हो।

*

जब सच्चे ज्ञान के दरवाजों को पार कर लिया जाता है तो उस ज्ञान को प्रकट करने के लिए शब्द नहीं मिलते।

*

जिसने सच्चे 'ज्ञान' के दरवाजों को पार कर लिया है उसके पास और कुछ कहने या सिखाने के लिए नहीं बचता।

*

To come closer to the Truth, you must often accept not to understand

'सत्य' के अधिक निकट आने के लिए, तुम्हें प्रायः न समझना स्वीकार करना पड़ता है।

२५ नवम्बर, १९६१

*

जब मैं ठीक होता हूं तो कोई याद नहीं रखता। जब मैं गलत होता हूं, तो कोई भूलता नहीं।

क्योंकि सच्चा ठीक और गलत कुछ नहीं है—एकमात्र 'सत्य' हैं 'परम प्रभु' और 'वे' सब कुछ याद रखते हैं।

२६ जनवरी, १९६३

*

हर एक विचार (या विचार-तन्त्र) अपने देश और काल में सच्चा होता है। लेकिन अगर वह ऐकान्तिक होना चाहे या अपना काल समाप्त होने पर भी बने रहना चाहे तो वह सच्चा नहीं रहता।

*

अगर इस समग्रता के किसी तत्त्व को अलग-थलग लिया जाये और

एकमात्र सत्य के रूप में प्रतिपादित किया जाये तो चाहे वह कितना भी केन्द्रीय या व्यापक क्यों न हो, वह आवश्यक रूप से मिथ्यात्व बन जाता है क्योंकि तब वह शेष समग्र 'सत्य' को अस्वीकार करता है। ठीक वही निर्विवाद सिद्धान्त बनता है और इसीलिये वह सबसे ज्यादा खतरनाक प्रकार का मिथ्यात्व होता है, क्योंकि हर एक इसी बात की पुष्टि करता है कि वही एकमात्र ऐकान्तिक सत्य है। निरपेक्ष, अनन्त, शाश्वत 'सत्य' मन के लिए अचिन्त्य होता है। मन केवल उसी के बारे में सोच सकता है जो स्थानीय और लौकिक, आंशिक और सीमित हो। इस तरह मानसिक स्तर पर निरपेक्ष 'सत्य' अनगिनत आंशिक और परस्पर-विरोधी सत्यों में बंट जाता है जो अपनी समग्रता में जहां तक बन पड़े मौलिक 'सत्य' का फिर से निर्माण करने की कोशिश करते हैं—क्योंकि ऐसा प्रत्येक सत्य और सभी सत्यों को हटाकर अपने-आपको एकमात्र सत्य के रूप में प्रतिपादित करने की कोशिश करता है। ये सब सत्य अपनी अनगिनत समग्रता में क्रमशः 'अनन्त', 'शाश्वत', 'निरपेक्ष' सत्य को सम्भवन में उत्तरोत्तर प्रकट करते हैं—इस तरह वे समग्र सत्य का निषेध करते हैं।

*

The truth is neither
in separation nor
in uniformity –
The truth is in unity
manifesting through diversity

सत्य न तो पृथक्ता में है न एकरूपता में।
सत्य है विविधता द्वारा अभिव्यक्त होती हुई एकता में।

*

बौद्धिक रूप से 'सत्य' वह बिन्दु है, जहां सभी विरोध आकर मिलते और एकता का निर्माण करने के लिए जुड़ जाते हैं।

व्यावहारिक रूप से 'सत्य' है अहंकार का समर्पण ताकि भगवान् का जन्म और उनकी अभिव्यक्ति सम्भव हो।

सन्देह अहंकार का सबसे अच्छा अस्त्र है जिसका उपयोग वह अपने-आपको विलोपन से बचाने के लिए करता है।

ये मार्ग पर कुछ ऐसी टिप्पणियां हैं जो तुम्हें जरा आगे ले जा सकती हैं।

ये मेरे आशीर्वाद के साथ भेजी जा रही हैं।

६ अक्तूबर, १९६५

*

सत्य मन से ऊपर है, नीरवता में ही मनुष्य उसके साथ नाता जोड़ सकता है।

भगवान् से प्रार्थना करना और अपने-आपको पूरी तरह, पूरी सचाई के साथ 'उनके' अर्पण कर देना आवश्यक प्राथमिक शर्तें हैं।

२४ अक्तूबर, १९७१

*

जो सचाई के साथ 'सत्य' की सेवा करना चाहता है वह 'सत्य' को जान जायेगा।

राय और सत्य

'अज्ञान' में मानसिक रायें हमेशा एक-दूसरे का विरोध करती हैं। 'सत्य' में वे एक उच्चतर ज्ञान की पूरक पहलू हैं।

*

सभी रायें उस 'सत्य' का पहलू हैं जिसके पास तभी पहुंचा जा सकता

है जब तुम इन सब पहलुओं को लेकर एक व्यापक समग्रता बना सको।

११ जनवरी, १९६७

*

स्वभावतः ये सब वाद-विवाद (या रायों के आदान-प्रदान) शुद्ध रूप से मानसिक हैं और सत्य के दृष्टिकोण से इनका कोई मूल्य नहीं, हर एक के मन का चीजों को देखने और समझने का अपना ही तरीका होता है। और अगर तुम इन सब देखने के तरीकों को जोड़ कर एक साथ ला भी सको तब भी तुम 'सत्य' की प्राप्ति से बहुत दूर होओगे। केवल तभी जब मन की नीरवता में तुम अपने-आपको विचार के ऊपर उठा सको तब तुम तादात्म्य द्वारा जानने के लिए तैयार होओगे।

बाह्य अनुशासन की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि जब तुम्हारी कोई राय हो और तुम उसे प्रकट करो तो याद रखो कि यह केवल एक राय, देखने और अनुभव करने का एक तरीका है तथा अन्य लोगों की राय और उनके देखने और अनुभव करने के तरीके भी तुम्हारे तरीकों के जितने ही न्यायसंगत हैं और उनका विरोध करने की जगह तुम्हें उन सब को *जोड़कर* एक अधिक व्यापक समन्वय पाने की कोशिश करनी चाहिये।

सब मिलाकर वाद-विवाद हमेशा काफी बेकार होते हैं और मुझे समय का अपव्यय लगते हैं।

५ जून, १९६७

*

सभी रायों में कुछ सत्य होता है और कुछ असत्य। वस्तुतः क्रोध किये बिना औरों की रायों को सुन सकना, एक बड़ी और उपयोगी चीज है।

*

यह जानना कि कैसे सुना जाये : एकाग्र और नीरव होकर।

*

प्रिय और मधुर स्मित देने की अपेक्षा सत्य कहना हमेशा ज्यादा अच्छा है। लेकिन तुम जो कह रहे हो वह सत्य नहीं है। यह केवल तुमने अपनी राय प्रकट की है।

सच बोलने का मतलब यह नहीं है कि जो कुछ तुम्हारे मन में आये उसे कह डालो।

ईमानदारी

ईमानदारी सबसे अच्छी सुरक्षा है।

*

ईमानदारी का सबसे बड़ा पुरस्कार है शान्तिपूर्ण हृदय।

*

सच्चे और ईमानदार बनो तो तुम्हारा मन चैन से रहेगा।

१० दिसम्बर, १९५९

*

प्राणिक ईमानदारी : अपने संवेदनों और अपनी कामनाओं को अपने निर्णय को झुठलाने और अपने कामों को निर्धारित न करने देना।

*

मानसिक ईमानदारी : तुम औरों को या अपने-आपको धोखा देने की कोशिश नहीं करते।

*

मानसिक सचाई : सम्पूर्ण ईमानदारी के लिए अनिवार्य शर्त।

हमेशा सच बोलो

हमेशा सच बोलना आभिजात्य का सबसे ऊंचा पद है।

*

सत्य की एक बूंद मिथ्या जानकारी के सागर से ज्यादा मूल्यवान् है।

*

कभी झूठ न बोलो : मार्ग पर सुरक्षा के लिए बिल्कुल पूर्ण अवस्था।

*

बोला गया प्रत्येक झूठ विघटन की ओर उठाया गया एक कदम है।

*

मैंने हमेशा झूठ बोलने की मनाही की है और हमेशा करती रहूंगी।

*

अगर तुम कोई सच्ची बात नहीं कहना चाहते हो तो झूठ बोलने की जगह चुप रहो।

*

इस कलम से कोई ऐसी चीज न लिखी जाये जो पूर्णतया सच न हो।

१४ जून, १९३४

*

अगर हम किसी मिथ्यात्व को, वह चाहे जितना भी छोटा क्यों न हो, अपने मुख या अपने कलम द्वारा व्यक्त होने दें तो 'सत्य' के पूर्ण सन्देशवाहक बनने की आशा कैसे कर सकते हैं? 'सत्य' के पूर्ण सेवक को किंचित्मात्र भी अयथार्थता, अतिशयोक्ति या विकृति से बचना चाहिये।

*

नीरवता अयथार्थता से कहीं श्रेष्ठ है।

३० दिसम्बर, १९७२

वाणी का संयम

एकदम मौन की अपेक्षा तुम जो कहते हो उस पर संयम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। सबसे अच्छा है जो उपयोगी हो उसे यथार्थ और यथासम्भव सच्चे ढंग से कहना सीखना।

५ मार्च, १९३३

*

आत्म-संयम सबसे पहली आवश्यक चीज है और उसमें भी अपनी वाणी का संयम। अगर लोग चुप रहना सीख लें तो कितनी कठिनाइयों से बचा जा सकता है!

केवल कार्य करने के लिए ही नहीं, बल्कि मुख्यतः 'रूपान्तर' साधित करने के लिए भी अचंचल रहो और बल और शक्ति जुटाओ।

३ मार्च, १९३४

*

अगर लोग बोलने, काम करने या लिखने से पहले जरा शान्त रह लें तो बहुत-सी तकलीफों से बचा जा सकता है। इतनी सारी चीजें व्यर्थ में बोली जाती हैं जो गलतफहमियां और दुर्भावनाएं लाती हैं। मौन के द्वारा उनसे बचा जा सकता था।

अगर केवल वही शब्द बोले जाते जिनके बोलने की जरूरत है तो संसार बहुत नीरव स्थान होता।

२९ दिसम्बर, १९३४

*

संसार निरर्थक शब्दों के कारण बहरा हो गया है।

*

माताजी, हमें कपड़े सुखाने में देर हो गयी क्योंकि उधर धोने में देर हो गयी थी। लेकिन मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि मैं अपने साथियों के उग्र वाद-विवाद में बह नहीं गया। मैं कठिनाई के साथ यह कर पाया। अब से मैं यही वृत्ति अपनाने की कोशिश करूंगा। मुझे 'अपनी नीरवता' का बल प्रदान कीजिये।

हां, यह जानना बहुत अच्छा है कि चुपचाप कैसे रहा जाये और वाद-विवादों में भाग न लिया जाये जो हमेशा व्यर्थ और अप्रिय होते हैं।

*

मौन रहने की शक्ति में बड़ा बल है।

*

वक्तृताओं को, विशेषकर तथाकथित आध्यात्मिक विषयों पर दी गयी वक्तृताओं को न सुनना हमेशा ज्यादा अच्छा है। हर एक को अपने ही मार्ग का अनुसरण करना चाहिये, दूसरों का उसके साथ कोई सरोकार नहीं होता।

९ जनवरी, १९३८

*

कभी-कभी शब्दों के आदान-प्रदान की अपेक्षा आध्यात्मिकता का वातावरण बहुत ज्यादा मदद करता है।

२२ नवम्बर, १९५१

*

तुम्हें हमेशा वही करना चाहिये जो तुम कहते हो लेकिन तुम जो कुछ करते हो उस सबके बारे में बोलना हमेशा बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होता।

तुम जब बोलो तो हमेशा सच बोलो; लेकिन कभी-कभी न बोलना ज्यादा अच्छा होता है।

१८ दिसम्बर, १९५१

*

भौतिक चीजों के बारे में बोलते समय तुम्हारी शैली सजीव, मनोहर और विनोदपूर्ण होनी चाहिये।

प्राणिक चीजों के बारे में बोलते समय शैली धाराप्रवाह होनी चाहिये।

मानसिक चीजों के बारे में बोलते समय शैली स्पष्ट, सुनिश्चित और यथार्थ होनी चाहिये।

चैत्य चीजों के बारे में बोलते समय तुम्हें अन्तःप्रेरित होना चाहिये।

२३ जनवरी, १९५३

*

आध्यात्मिक वाणी : अपनी सरलता में सर्व-समर्थ।

*

स्पष्टता परिणाम की परवाह किये बिना, उसे जो कुछ कहना होता है निश्छलता से कह देती है।

*

चीजों को मधुरता के साथ कह सकना हमेशा बल का चिह्न होता है और दुर्बलता ही हमेशा अप्रिय रूप में फूट पड़ती है।

१८ अप्रैल, १९५६

*

क्रोध ने किसी से मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं कहलवाया।

*

कभी शेखी मत बघारो। शेखी बघारकर तुम उपलब्धि के लिए अपनी योग्यता को छितरा देते हो।

*

शेखी, शेखी, प्रगति के लिए सबसे बड़ी बाधाओं में से एक। अगर तुम सच्ची प्रगति की अभीप्सा करते हो तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ

इस मूर्खता से बचना चाहिये।

बहुत-सी बुरी आदतों की अपेक्षा निन्दा करने की आदत ज्यादा विनाशक है।

*

"Me'dire" बहुत घिनौनी चीज है। मुझे पता नहीं "Me'dire" का अंग्रेजी में कैसे अनुवाद किया जाये। यह ठीक-ठीक "बुरा बोलना" नहीं है। कुटिल मन, कुटिल जीभ, कुटिल हृदय : यह सब वाणी में आकर मधु के जैसा दीखता है पर स्वाद विष जैसा होता है।

*

व्यर्थ में बोला गया प्रत्येक शब्द भयानक गपबाजी है।

हर दुर्भावनापूर्ण शब्द, हर मिथ्यापवाद चेतना की अधोगति है।

और जब यह मिथ्यापवाद भद्दी भाषा और गंवारू शब्दों में प्रकट किया जाता है तो यह आत्मघात के समान होता है—अपनी अन्तरात्मा के आत्मघात के समान।

९ अगस्त, १९५७

*

जब अज्ञान में तुम औरों के लिए बुरा बोलते हो तो तुम अपनी चेतना को भ्रष्ट और अन्तरात्मा को पदच्युत करते हो।

सम्मान और विनयपूर्ण मौन ही शिष्य के योग्य वृत्ति है।

*

वाणी के असंयम में प्रकट होनेवाले आलोचनात्मक भाव का इलाज :

१. जब तुम इस अवस्था में हो तो बोलने से एकदम इन्कार करो—जरूरी हो तो भौतिक रूप से अपना बोलना असम्भव बना दो।

२. निर्दय होकर अपना अध्ययन करो और यह अनुभव करो कि तुम औरों के अन्दर जिन चीजों को इतना हास्यास्पद मानते हो, ठीक वही चीजें स्वयं तुम्हारे अन्दर हैं।

३. अपने स्वभाव में विपरीत होने का तरीका भी खोजो (शुभ चिन्ता, नम्रता, सद्‌भावना) और इस पर जोर दो कि यह इतना विकास कर ले कि उस विपरीत तत्त्व को नष्ट कर दे।

११ अक्तूबर, १९५८

*

हृदय में भागवत 'उपस्थिति' द्वारा सच्चा बल और सुरक्षा आते हैं।

अगर तुम इस 'उपस्थिति' को अपने अन्दर निरन्तर रखना चाहते हो तो भाषण, आचरण और क्रियाकलापों के सारे गंवारूपन से बड़ी सावधानी के साथ बचो। स्वच्छन्दता को, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता को अशिष्ट व्यवहार न मान बैठो। विचारों को पवित्र और अभीप्सा को तीव्र होना चाहिये।

२६ फरवरी, १९६५

*

सावधान रहो कि जब तुम लोगों से बातें करो तो हमेशा जीवन्त 'उपस्थिति' और दिव्य सुरक्षा अपने चारों तरफ रखो और कम-से-कम बोलो।

*

जो नहीं समझते उनके सामने चुपचाप रहने के बारे में तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है, क्योंकि परम प्रभु तुम्हारे साथ हैं, और यही एकमात्र वस्तु है जिसका मूल्य है।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

३ नवम्बर, १९६५

*

तुम्हें जाकर क्षमा प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन चूंकि, तुम्हारे शब्द गलत तरीके से समझे गये इसलिए तुम्हारा यह निश्चय ठीक है कि बोलते समय ज्यादा सावधान रहोगे।

*

निश्चय ही दूसरों की भूलों के बारे में बोलना बहुत बुरा है; हर एक के अपने दोष होते हैं और उन्हीं के बारे में सोचते रहना, निश्चय ही उन्हें ठीक करने में सहायता नहीं पहुंचाता।

जून, १९६६

*

बोलने से भी बढ़कर लिखने के लिए: अगर तुम भगवान् की ओर शीघ्रता से बढ़ने के लिए उत्तम वृत्ति में रहने की अभीप्सा करते हो, तो तुम्हें यह कठोर नियम बना लेना चाहिये कि उतना ही बोलो (और उससे भी बढ़कर उतना ही लिखो) जितना *एकदम अनिवार्य* हो। अगर तुम सच्ची निष्कपटता के साथ इसका अनुसरण करो तो यह अद्‌भुत अनुशासन है।

२७ जुलाई, १९६६

*

न तो बहुत अधिक और न बहुत कम शब्द—बस जितना आवश्यक हो।

*

मेरे ख्याल से सूचनाएं इकट्ठी करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं है?

यह बुरी और हानिकर है और यह न केवल उनकी चेतना को नीचे गिराती है जो गप्पें लगाते हैं बल्कि उस जगह के वातावरण को भी खराब कर देती है।

२९ जुलाई, १९६७

*

कोई क्या कर रहा है या नहीं कर रहा इसके बारे में गपबाजी करना गलत है।

ऐसी गप्प को सुनना गलत है।

यह देखना कि यह गप्प सच है या नहीं गलत है।

झूठी गप्पों का शब्दों में प्रतिकार करना गलत है।

सारी चीज अपने समय को नष्ट करने और अपनी चेतना को नीचे गिराने का बहुत बुरा तरीका है।

जब तक कि इस घृणित आदत को वातावरण से मिटा नहीं दिया जाता तब तक 'आश्रम' अपने भागवत जीवन के लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंचेगा।

मैं आशा करती हूं कि सब तुम्हारी तरह प्रायश्चित करेंगे और इस बुरी आदत को छोड़ देने का प्रण लेंगे।

१२ अक्तूबर, १९६७

कथनी और करनी

जानना काफी नहीं है, तुम्हें *क्रियान्वित* करना होगा।

*

दिखावा करना काफी नहीं है, तुम्हें *बनना* होगा।

१५ नवम्बर, १९४०

*

'सत्य' के पथ पर, अधिक जानने के लिए तुमने जो कुछ पहले सीखा है उसे जीवन में उतारो।

जरा-सा निष्कपट आचरण बहुत-से लिखे और बोले गये शब्दों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

जुलाई १९५३

*

अभ्यास की एक बूंद सिद्धान्तों, सलाहों और अच्छे संकल्पों के सागर से कहीं अच्छी है।

१९६८

बोलो कम, कार्य अधिक करो।

*

कम बोलो, सच्चे बनो, पूर्ण निष्कपटता के साथ काम करो।

*

सुनना अच्छा है, लेकिन पर्याप्त नहीं है—तुम्हें समझना चाहिये।

समझना ज्यादा अच्छा है, लेकिन फिर भी पर्याप्त नहीं है—तुम्हें कार्य करना चाहिये।

२४ नवम्बर, १९६९

*

('श्रीअरविन्द ऐक्शन' के उद्‌घाटन के समय दिया गया सन्देश)

भला बोलना अच्छा है। भला कार्य करना ज्यादा अच्छा है। अपनी करनी को कभी अपनी कथनी से छोटा न होने दो।

२१ जुलाई, १९७०

*

सत्य की उपेक्षा करने से ज्यादा अच्छा है उसे कह देना; लेकिन उसे कह देने से कहीं ज्यादा अच्छा है उसे जीना।

*

लोग इस शिक्षा के बारे में बहुत कुछ बोलते हैं लेकिन इसका अनुसरण नहीं करते।

*

ऐसे लोग जो अपने सोचने के अनुसार नहीं जीते बेकार होते हैं।

*

किसी 'भागवत शिक्षा' को पढ़ना अच्छा है।
उसे सीखना ज्यादा अच्छा है।
सबसे अच्छा है उसे जीना।

*

कोई शिक्षा तभी लाभदायक हो सकती है जब वह पूरी तरह सच्ची और निष्कपट हो, यानी वह जिस समय दी जाये उस समय उसे जिया भी जाये। बहुधा दोहराये गये शब्द, बहुधा कहे गये विचार सच्चे, निष्कपट नहीं रह जाते।

*

अन्तिम विश्लेषण में, सभी सिद्धान्त, सभी शिक्षाएं और कुछ नहीं, बस देखने और कहने के तरीके हैं। ऊंचे-से-ऊंचे अन्तर्भास भी उनके साथ आयी चरितार्थता की शक्ति से अधिक मूल्य नहीं रखते।

क्षण भर के लिए भी 'परम सत्य' को जीना उन सैकड़ों किताबों को लिखने या पढ़ने से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है जिनमें उसे खोजने की पद्धतियां या प्रक्रियाएं होती हैं।

*

उत्तरोत्तर विकसनशील सत्य को चरितार्थ करने के लिए सिद्धान्त को व्यवहार के सांचे में ढालना चाहिये न कि व्यवहार को सिद्धान्त के सांचे में।

*

क्रिया करने से पहले यह जानो कि तुम्हें करना क्या है।

भाग ४

कठिनाइयां

परिस्थितियां

परिस्थितियां : कारण नहीं परिणाम

यह मानना भ्रान्ति या अन्धविश्वास है कि कोई बाहरी चीज या परिस्थिति किसी भी चीज का कारण हो सकती है। सभी चीजें और परिस्थितियां उस परम शक्ति के साथ आने वाले परिणाम होती हैं जो परदे के पीछे से कार्य करती है।

'शक्ति' क्रिया करती है और प्रत्येक वस्तु अपनी प्रकृति के अनुसार प्रतिक्रिया करती है।

*

तुम्हें परिणामों को कारण न मान बैठना चाहिये।

*

भौतिक घटनाओं को जैसी वे दीखती हैं वैसी कभी न मानो। वे सदा किसी और ही चीज को अभिव्यक्त करने का बेढंगा प्रयास होती हैं, और वह सच्ची चीज तुम्हारी सतही समझ से बच निकलती है।

*

प्रत्यक्ष प्रतिषेधों की परवाह न करो, उनके पीछे भी सत्य को पाया जा सकता है।

परिस्थितियां : पूर्व कर्मों के परिणाम

(किसी ने अपनी उस समय की परिस्थितियों के बारे में सहानुभूति मांगी।)

मुझे पूरी सहानुभूति है लेकिन मुझे अटल विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति का

अपने जीवन में उन्हीं परिस्थितियों से सामना होता है जिन्हें वह अपने लिए, आन्तरिक या बाह्य रूप से बनाता है।

११ जुलाई, १९३९

*

लोग अपनी नियति के बारे में रोते-धोते रहते हैं और अनुभव करते हैं कि अगर अन्य लोग और चीजें बदल जायें तो उनकी कठिनाइयां और दुःखद प्रतिक्रियाएं दूर हो जायेंगी। क्या आप इस अनुभव के प्रति मेरी शंका से सहमत हैं?

हर एक अपने-आप अपने दुःखों का शिल्पी होता है।

४ दिसम्बर, १९३९

*

अपने जीवन की परिस्थितियों के बारे में शिकायत करना हमेशा गलत होता है, क्योंकि हम अपने-आपमें जो कुछ हैं, वे उसकी बाहरी अभिव्यक्ति होती हैं।

२८ जुलाई, १९५४

*

व्यक्ति के अपने अन्दर ही सारी बाधाएं होती हैं, व्यक्ति के अपने अन्दर ही सारी कठिनाइयां होती हैं, व्यक्ति के अपने अन्दर ही सारा अन्धकार और सारा अज्ञान होता है।

१६ नवम्बर, १९५४

'दुर्भावना' वाले लोगों के प्रति

तुमने जो अनिष्ट स्वेच्छा से किया है वह हमेशा तुम्हारे पास किसी-

न-किसी रूप में वापस आता है।

२४ अप्रैल, १९६९

*

हर एक जो चाहे वह करने के लिए स्वतन्त्र है लेकिन वह अपने कर्मों के स्वाभाविक परिणामों को आने से नहीं रोक सकता। केवल वही जो भगवान् के साथ और भगवान् के लिए किया जाता है, कर्मफल की दासता से मुक्त होता है।

*

एक 'परम भगवत्ता' हमारे सभी कर्मों की साक्षी है और परिणाम का दिन जल्दी ही आयेगा।

१ मार्च, १९७१

*

हर एक अपने ऊपर अपने कर्मों के परिणामों को लाता है।

३ मार्च, १९७१

*

तुमने अपने पत्र के अन्तिम पृष्ठ पर जो कहा है उसके बारे में : चीजें ठीक वैसी नहीं हैं जैसी तुम सोचते हो। पिछले कुछ वर्षों से मुझे इस विषय पर बहुत कुछ कहना पड़ा है। लेकिन उसका क्या फायदा? कुछ पानी ऐसे होते हैं जिन्हें हिलाये बिना ऐसे ही छोड़ देना ज्यादा अच्छा होता है। बहरहाल, मैं चाहती हूं कि तुम यह कभी न भूलो : हर एक को जीवन में जो कुछ मिलता है वह हमेशा उसी के अनुकूल होता है जो वह है, उस तरह नहीं जैसे अज्ञानी मानवीय न्याय समझता है, बल्कि उस नियम के अनुसार जो अधिक सूक्ष्म, अधिक गहन, अधिक सच होता है। हम यह कभी न भूलें कि परम 'प्रभु' सभी चीजों के पीछे हैं और 'वे' ही हमारे प्रारब्ध के स्वामी हैं।

परिस्थितियां और हमारी आन्तरिक स्थिति

सन्तोष बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, आन्तरिक स्थिति पर निर्भर होता है।

२६ जुलाई, १९५४

*

लोग समझते हैं कि उनकी स्थिति परिस्थितियों पर आधारित है। लेकिन यह बिलकुल मिथ्या है। अगर कोई "स्नायविक रूप से तबाह" हो गया है तो वह सोचता है कि अगर परिस्थितियां अधिक अनुकूल हों तो वह अच्छा हो जायेगा। लेकिन वस्तुतः अगर परिस्थितियां अच्छी हो भी जायें तो भी वह वह-का-वही बना रहेगा। सभी को लगता है कि वे अपने-आपको थका हुआ और कमजोर महसूस करते हैं क्योंकि लोग उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। यह बकवास है। परिस्थितियों को बदलने की जरूरत नहीं। जरूरत है आन्तरिक परिवर्तन की।

*

अगर तुम यह अनुभव करो कि किसी परिवर्तन की आवश्यकता है तो वह मनोवृत्ति में किया जा सकता है, जो कहना और जो पाना है उस पर अधिक जोर देकर और अतीत को भविष्य की तैयारी के रूप में मानकर किया जा सकता है। यह करना बहुत कठिन नहीं है—और मुझे पूरा विश्वास है कि तुम इसे आसानी से कर लोगे।

*

तुम्हारी यह तकलीफ है। यह इस बात की सूचक है कि तुम्हारे अन्दर कुछ ऐसा है जिसे तुरन्त बदलने की आवश्यकता है। कुछ ऐसा है जो 'प्रकाश' में आना अस्वीकार कर रहा है। अगर तुम अपनी चेतना को बदल सको तो तकलीफ गायब हो जायेगी।†

*

जब व्यक्ति को बाहरी परिवर्तनों की आवश्यकता हो तो इसका यह अर्थ है कि वह अन्दर से प्रगति नहीं कर रहा; क्योंकि जो आन्तरिक प्रगति करता है वह आसानी से हमेशा उन्हीं बाहरी परिस्थितियों में रह सकता है : वे उसके सामने हमेशा नये सत्य प्रकट करती हैं।

सभी बाहरी परिवर्तन किसी आन्तरिक रूपान्तर की सहज और अवश्यम्भावी अभिव्यक्ति होने चाहियें। साधारणतः भौतिक जीवन की अवस्थाओं में समस्त सुधार, भीतर चरितार्थ की गयी प्रगति का ऊपरी सतह पर आकर खिलना होना चाहिये।

२९ मार्च, १९५८

*

व्यवस्था और लयताल के बिना भौतिक जीवन नहीं हो सकता। जब यह व्यवस्था बदली जाये तो उसे आन्तरिक विकास के आदेशानुसार बदलना चाहिये न कि बाहरी नयेपन के लिए। केवल निम्न सतही प्राणिक प्रकृति का कुछ हिस्सा ही अपने लिए सदा बाहरी परिवर्तन और नवीनता की चाह करता है।

सतत आन्तरिक विकास द्वारा मनुष्य सतत नवीनता और जीवन में अक्षय रस पा सकता है। और कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है।

*

घर बदल कर तुम चरित्र नहीं बदल सकते। अगर तुम अपना चरित्र बदल लो तो तुम्हें वातावरण बदलने की जरूरत नहीं रह जायेगी।

२२ अक्तूबर, १९६४

*

दिव्य मां,

पिछले दिनों से मुझे किसी अलग घर में जाने की इच्छा हो रही है। मुझे मालूम नहीं कि मेरा ऐसा सोचना ठीक है या नहीं। इस विषय में क्या मैं आपका दिव्य पथ-प्रदर्शन पा सकता हूं?

जब तुम "साधना" करते हो तो बाहरी वस्तुओं का महत्त्व बहुत नहीं होना चाहिये। आवश्यक आन्तरिक शान्ति किन्हीं भी परिवेशों में स्थापित की जा सकती है।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१९ अगस्त, १९६६

*

माताजी, मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि हमारा जीवन भौतिक वस्तुओं पर इतना निर्भर क्यों है?

ऐसा होना जरूरी नहीं है; अगर चेतना कहीं और, अधिक गहराई में केन्द्रित हो तो भौतिक चीजों का बहुत महत्त्व नहीं रहता।

कठिनाइयां

कठिनाइयों का कारण और उनकी उपयोगिता

कठिनाइयां हमेशा किसी-न-किसी प्रतिरोध के कारण आती हैं, सत्ता का कोई भाग या उसके कुछ भाग अपने ऊपर रखे गये शक्ति, चेतना और प्रकाश को ग्रहण करने से इन्कार करते हैं और भागवत प्रभाव के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। ऐसा बहुत विरल होता है कि मनुष्य इन कठिनाइयों में से किसी-न-किसी का सामना किये बिना पूरी तरह से 'भागवत इच्छा' के प्रति समर्पण कर दे। लेकिन अपनी अभीप्सा को स्थिर बनाये रखना और अपने-आपको पूरी सच्ची निष्कपटता के साथ देखना सभी बाधाओं पर विजय पाने का निश्चित उपाय है।

*

निश्चय ही ये सब कठिनाइयां कहीं पर प्रतिरोध के कारण आती हैं, किसी ऐसी चीज के कारण जो रूपान्तर के कार्य का विरोध करती है।

*

परिस्थितियां हमेशा छिपी हुई दुर्बलताओं को प्रकट करने के लिए आती हैं ताकि उन्हें जीता जा सके।

*

कठिनाइयां हमारे पास ऐकान्तिक रूप से इसीलिए भेजी जाती हैं ताकि उपलब्धि अधिक पूर्ण हो।

हर बार जब हम किसी चीज को उपलब्ध करने की कोशिश करें और हमें किसी प्रतिरोध या बाधा या ऐसी असफलता का सामना करना पड़े—जो असफलता दीखती है—तो हमें यह जान लेना चाहिये, हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि ऐकान्तिक रूप से, पूरी तरह यह इसलिए है कि उपलब्धि अधिक पूर्ण हो।

तो यह घिघियाने, हिम्मत हारने, या बेचैनी अनुभव करने की आदत या अपने-आपको बुरा-भला कहने और यह कहने की आदत कि "लो,

मैंने फिर से भूल कर डाली"—यह सब निरी मूर्खता है।

अपने-आपसे बस इतना ही कहो : "हम नहीं जानते कि चीजें कैसे करनी चाहियें। वे हमारे लिए की जा रही हैं, जो होना हो, हो।" और अगर हम देख पाते कि हर एक कठिनाई, भूल, असफलता और रुकावट —ये सब किसी हद तक हमारी सहायता करने के लिए ही हैं, उपलब्धि अधिक पूर्ण बनाने के लिए हैं।

एक बार तुम यह जान लो तो सब कुछ आसान हो जाता है।

६ अक्तूबर, १९५८

*

आघात और परीक्षाएं हमेशा भागवत कृपा के रूप में हमें हमारी सत्ता में वे बिन्दु दिखाने आती हैं जहां हममें कमी है और जिन गतिविधियों में हम अपनी मानसिक सत्ता और प्राणिक सत्ता की चिल्ल-पों सुनकर अपनी अन्तरात्मा की ओर पीठ कर लेते हैं।

अगर हम इन आध्यात्मिक आघातों को उचित नम्रता के साथ स्वीकारना जानें तो हम निश्चित ही एक छलांग में काफी दूरी पार कर लेंगे।

२२ फरवरी, १९६५

*

इस बात पर विश्वास रखो कि जो कुछ घटता है वह हमें ठीक वही पाठ देने के लिए होता है जिसकी हमें जरूरत है, और अगर हम "साधना" में सच्चे हैं तो पाठ को आनन्द और कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना चाहिये।

जो दिव्य जीवन के लिए अभीप्सा करता है उसके लिए अन्धी और अज्ञ मानवजाति के कर्मों का क्या मूल्य हो सकता है?

१८ जनवरी, १९६७

*

अगर सचमुच तुम भगवान् से प्रेम करते हो तो इसे अचंचल और शान्त रहकर प्रमाणित करो। हर एक के जीवन में जो कुछ आता है,

भगवान् के यहां से पाठ सिखाने के लिए आता है और अगर हम उसे उचित भाव से लें तो हम तेजी से प्रगति करते हैं।

ऐसा करने की कोशिश करो।

१३ दिसम्बर, १९६७

*

कठिनाइयां इसलिए आती हैं कि तुम्हारे अन्दर सम्भावनाएं हैं। अगर जीवन में सब कुछ आसान होता तो जीवन शून्य होता। चूंकि तुम्हारे रास्ते में कठिनाइयां आती हैं तो इससे पता चलता है कि तुम्हारे अन्दर सम्भावनाएं हैं। डरो मत।

२२ फरवरी, १९६८

*

तुम "क" से मेरी ओर से कह सकते हो कि उसे इस अप्रिय दीखने वाली परिस्थिति को इस बात के प्रमाण के रूप में लेना चाहिये कि 'प्रभु' मानते हैं कि वह आध्यात्मिक जीवन के लिए तैयार है और उसे अब किसी बाह्य या भौतिक चीज के साथ आसक्त न रहना चाहिये।

अगर वह चीजों को इस तरह लेगा तो वह जल्दी ही यह अनुभव करेगा कि उसका समस्त दुःख चला गया है।

मेरा मतलब यह था कि उसके बारे में चिन्ता न करो। उसके पास जो कुछ आये उसे वह व्यग्र या दुःखी हुए बिना, उत्तेजित या व्याकुल हुए बिना स्वीकार कर ले।

*

अभीप्सा करने वाले और "साधक" के लिए, उसके जीवन में जो कुछ आता है, परम सत्य को जानने और उसे जीने में सहायता देने के लिए आता है। विश्वास रखो, तुम विजयी होओगे। और इसका अर्थ होगा प्रगति का एक बहुत बड़ा कदम।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१२ सितम्बर, १९६९

*

कठिनाइयां हमेशा हमसे प्रगति करवाने के लिए आती हैं। कठिनाई जितनी बड़ी होगी, प्रगति उतनी ही बड़ी हो सकती है।

विश्वास रखो और सह जाओ।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

नवम्बर १९६९

*

'विजय' से पहले की घड़ियां बहुधा सबसे कठिन होती हैं।

व्यक्ति के समर्पण में अन्तिम प्रतिरोध ही, कभी-कभी ऐसे जो बिलकुल नगण्य होते हैं, सबसे अधिक दुराग्रही होते हैं और उन पर विजय पाना सबसे अधिक कठिन होता है।

लेकिन हम उनसे भी ज्यादा हठी हों तो संघर्ष का विजयी अन्त निश्चित है।

कठिनाइयों के बारे में कभी शिकायत न करो

जो पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता है उसे मार्ग की कठिनाइयों के बारे में कभी शिकायत न करनी चाहिये क्योंकि हर कठिनाई एक नयी प्रगति का अवसर है। शिकायत करना कमजोरी और सचाई के अभाव का चिह्न है।

*

जहां दोनों छोर मिलते हैं वहां किसी भी चीज के बारे में शिकायत करना, अपने बारे में, औरों के बारे में या परिस्थितियों के बारे में शिकायत करना दुर्बलता और अपनी परम 'आत्मा' के प्रति सचाई का अभाव है।

दोनों छोर जीवन की परिस्थितियों के प्रति तुम्हारी वृत्ति पर पड़ने वाले प्रभाव में मिलते हैं : सभी वस्तुओं में अभिव्यक्त 'भागवत इच्छा' के प्रति पूर्ण समर्पण और परम शक्ति की चेतना जो अपनी सर्वशक्तिमान् धारणा के अनुसार वस्तुओं को व्यवस्थित करती है। दोनों ही अवस्थाओं

में शिकायत के लिए कोई जगह नहीं है : अगर तुम पूरी तरह भगवान् को समर्पित हो तो तुम उनकी 'दिव्य इच्छा' के बारे में शिकायत कर ही कैसे सकते हो, वह चाहे किसी भी रूप में क्यों न आये? दूसरी ओर अगर तुम जगत् को जीवन के परम सत्य के अनुसार व्यवस्थित करने की शक्ति का अनुभव करते हो तो तुम जीवन की ऐसी अवस्था के विरुद्ध कैसे शिकायत कर सकते हो क्योंकि उसे बदलना तुम्हारे ऊपर निर्भर है।

*

कभी मत बुड़बुड़ाओ। जब तुम बुड़बुड़ाते हो तो तुम्हारे अन्दर सब तरह की शक्तियां घुस जाती हैं और तुम्हें नीचे खींच लेती हैं। मुस्कुराते रहो। मैं हमेशा मजाक करती हुई दीखती हूं पर यह केवल मजाक नहीं है। यह चैत्य से उत्पन्न विश्वास है। मुस्कान इस श्रद्धा को प्रकट करती है कि कोई चीज भगवान् के विरुद्ध खड़ी नहीं रह सकती और अन्त में हर चीज ठीक निकलेगी।

२८ मई, १९५४

*

तुम जितना अधिक बुड़बुड़ाओगे, तुम्हारे दुःख-दर्द उतने ही अधिक बढ़ेंगे।

*

अगर तुम जो हो उससे सन्तुष्ट नहीं हो तो भगवान् की सहायता का लाभ उठाकर अपने-आपको बदलो। अगर तुम्हारे अन्दर बदलने का साहस नहीं है तो अपनी नियति के आगे झुक जाओ और चुप रहो।

लेकिन तुम जिन परिस्थितियों में हो उनके बारे में हमेशा शिकायत करते रहना और उन्हें बदलने के लिए कुछ न करना तुम्हारे समय और तुम्हारी ऊर्जा की बरबादी है।

कठिनाइयां तभी गायब हो सकती हैं जब कामनाओं और सुविधाओं पर अहंकारमूलक एकाग्रता गायब हो जाये।

१२ मार्च, १९५८

कठिनाइयों के बारे में कभी चिन्ता न करो

कभी चिन्ता न करो।

तुम जो करो सचाई के साथ करो और परिणाम भगवान् की देखरेख में छोड़ दो।

Never worry –
Do with sincerity all you do and leave the results to the Divine's care.

*

आओ, हम प्रतिदिन चिन्ता के बिना जियें। जो चीज शायद कभी न हो उसके लिए पहले से ही चिन्ता क्यों की जाये?

*

चिन्ता भगवान् की कृपा पर विश्वास का अभाव है। यह अचूक चिह्न है कि समर्पण पूर्णतया सम्पूर्ण नहीं है।

*

कठिनाइयों का पूर्वदर्शन न करो। इससे उन्हें पार करने में मदद नहीं मिलती वरन् उन्हें आने में मदद मिलती है।

५ *अगस्त*, १९३२

*

प्रगति के बारे में चिन्ता न करना ज्यादा अच्छा है क्योंकि चिन्ता केवल प्रगति में बाधा देती है। पूरे भरोसे और सरलता के साथ भागवत सहायता की ओर खुलना और 'विजय' पर विश्वास रखना ज्यादा अच्छा है।

*

'शाश्वत' की चेतना में निवास करो तो तुम्हें कोई चिन्ता न रहेगी।

कठिनाइयों के बारे में भूल जाओ

मुझे अपना स्वभाव बचकाना लगता है।

तुम्हें इन छोटी-छोटी चीजों को बहुत महत्त्व न देना चाहिये। महत्त्वपूर्ण चीज है उस आदर्श को अपने आगे रखना जिसे तुम चरितार्थ करना चाहते हो और उसे पाने के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करो।

६ अप्रैल, १९३४

*

हां, हमें जो आदर्श धरती पर चरितार्थ करना है उसकी तुलना में आखिर इन छोटी-मोटी सतही चीजों का महत्त्व बहुत कम है।

२१ सितम्बर, १९३७

*

हमें हमेशा उस महान् आदर्श और कार्य को याद रखना चाहिये जिसे हमें चरितार्थ करना है ताकि हम छोटे-छोटे ब्योरों और नगण्य चीजों को बहुत महत्त्व न दें। उन्हें हमारा ध्यान न खींचना चाहिये। वे आकाश में ऐसे छोटे-छोटे बादलों की तरह आयें और निकल जायें जो अच्छे मौसम पर कोई असर नहीं डालते।

*

महत्त्वहीन चीजों को जरूरत से ज्यादा महत्त्व न दो।

*

हमें सभी अनिश्चित सम्भाव्यताओं की चिन्ता से मुक्त रहना चाहिये, हमें वस्तुओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण से छुटकारा मिलना चाहिये।

२५ नवम्बर, १९५४

*

कभी किसी कठिनाई के बारे में मत सोचो, इस तरह तुम उसे शक्ति देते हो।

१४ अप्रैल, १९५८

*

किसी बाधा पर केन्द्रित न होओ; वह केवल उसे अधिक बलशाली बना देती है।

*

अगर तुम तकलीफ के बारे में सोचते ही रहोगे तो वह बढ़ती चली जायेगी। अगर तुम उस पर केन्द्रित हुए तो वह फूल उठेगी, उसे लगेगा कि उसका स्वागत किया जा रहा है। लेकिन अगर तुम उस पर कोई ध्यान न दो तो उसे तुम्हारे अन्दर कोई रस न रह जायेगा और वह दूर चली जायेगी।†

*

सबसे अच्छा उपचार यह है कि अपने बारे में, अपने दोषों और अपनी कठिनाइयों के बारे में सोचना बन्द कर दो।

आओ हम *केवल* उस महान् कार्य के बारे में सोचें, उस आदर्श के बारे में सोचें जिसे श्रीअरविन्द ने हमें चरितार्थ करने के लिए दिया है। उस काम के बारे में, हम उसे किस तरह करते हैं इसके बारे में 'नहीं'।

मैं सहायता करूंगी।

५ जून, १९६१

*

अपनी कठिनाइयों को भूल जाओ। केवल भागवत कार्य करने के लिए उनके अधिकाधिक पूर्ण यन्त्र बनने के बारे में सोचो और भगवान् तुम्हारी सारी कठिनाइयों को जीतकर तुम्हें रूपान्तरित कर देंगे।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

५ मार्च, १९६८

*

अपनी कठिनाइयों को भूल जाओ।

अपने-आपको भूल जाओ...

और भगवान् तुम्हारी प्रगति की जिम्मेदारी ले लेंगे।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

५ मार्च, १९६८

*

दिव्य मां, मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि मेरे अन्दर के इस अंधेरे स्थान को प्रदीप्त करें और उसमें एक जीवन्त श्रद्धा भर दें।

उस भाग को कोई महत्त्व न दो और वह अपना जोर खो देगा, और यहां तक कि धीरे-धीरे अपना अस्तित्व भी खो बैठेगा।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ हैं।

१९७१

कठिनाइयों का सामना करो और उन्हें जीतो

सभी अग्नि-परीक्षाओं के लिए कृतज्ञ होओ, वे भगवान् तक जाने का छोटे-से-छोटा रास्ता हैं।

*

किसी आदर्श के लिए जीने में तुम जिस आनन्द का अनुभव करते हो वह पथ की सभी कठिनाइयों की निश्चित क्षतिपूर्ति है।

अपनी नियति में श्रद्धा रखो और तुम्हारा पथ प्रशस्त हो उठेगा।

*

हर एक के लिए और सारी पृथ्वी के लिए ऐसी हर चीज उपयोगी हो सकती है जो भगवान् को पाने में सहायता करे।

*

कृपा और सुरक्षा सदा तुम्हारे साथ हैं। जब तुम किसी आन्तरिक या बाह्य कठिनाई या तकलीफ में हो तो उसे अपने ऊपर हावी मत होने दो; 'भागवत शक्ति' की शरण में जाओ जो रक्षा करती है।

अगर तुम हमेशा श्रद्धा और निष्कपट सचाई के साथ ऐसा करो तो तुम अपने अन्दर किसी ऐसी चीज को खुलता पाओगे जो सभी सतही गड़बड़ों के बावजूद हमेशा निश्चल और शान्त रहेगी।

३ फरवरी, १९३१

*

जो सच्चे निष्कपट हैं उनकी मैं सहायता कर सकती हूं और उन्हें आसानी से भगवान् के प्रति मोड़ सकती हूं। लेकिन जहां कपट है वहां मैं बहुत ही कम कर सकती हूं। और जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुकी हूं, हमें केवल धीरज धर कर चीजों के अधिक अच्छा होने की प्रतीक्षा करनी है। लेकिन निश्चय ही मैं तुम्हारे व्याकुल होने का कोई कारण नहीं देखती और यह भी नहीं देखती कि तुम्हारी व्याकुलता चीजों को सुधारने में कैसे सहायता देगी। तुम अनुभव से जानते हो कि अस्तव्यस्तता और अन्धकार से बाहर निकलने का बस एक ही उपाय है; वह है बहुत स्थिर और शान्त तथा समचित्तता में दृढ़ रहना और तूफान को चले जाने देना। इन छोटे-मोटे झगड़ों और कठिनाइयों से ऊपर उठ जाओ और फिर से एक बार मेरे प्रेम के प्रकाश और बल में जागो जो कभी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ता।

*

सभी अप्रीतिकर चीजों का 'समता' की भावना के साथ सामना करना चाहिये।

२४ नवम्बर, १९३२

*

किसी कठिनाई को नयी प्रगति के अवसर में बदलना अच्छा है।

१३ मार्च, १९३५

*

निश्चय ही तुम यह नहीं मान सके कि थोड़ी-बहुत कठिनाइयों का सामना किये बिना भी साधना की जा सकती है। क्योंकि तुम्हारी अभीप्सा सच्ची और निष्कपट है इसलिए तुम्हारे अवचेतन में जो कुछ भागवत सिद्धि के मार्ग में बाधा दे रहा था, वह रूपान्तरित होने के लिए ऊपरी तल पर आ गया है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो तुम्हें उदास या निराश बनाये। इसके विपरीत प्रगति करने के इन अवसरों पर खुश होना चाहिये। सहायता के लिए मेरे प्रेम, शक्ति और आशीर्वाद का सहारा लेना कभी न भूलो।

१५ दिसम्बर, १९३६

*

अगर तुम अपनी श्रद्धा को अटल और अपने हृदय को हमेशा मेरे प्रति खुला रखो, तो चाहे जितनी बड़ी कठिनाइयां क्यों न आयें वे तुम्हारी सत्ता को अधिक पूर्ण बनाने में योगदान देंगी।

१९ अप्रैल, १९३७

*

अपनी बाहरी परिस्थितियों से पीछे हटने की कोशिश करो, केवल वे ही ऐसी चीजों से क्षुब्ध हो सकती हैं, और अपने अन्दर की उस शान्ति को ढूंढो जो हमेशा इनसे अछूती रहती है।

१४ नवम्बर, १९३७

*

हमेशा, जब कभी तुम कठिनाइयों का सामना करते हो और उनपर विजय पा लेते हो तो एक नये आध्यात्मिक उद्‌घाटन और विजय का आरम्भ होता है।

७ दिसम्बर, १९३७

*

जब तुम कोई प्रगति करना चाहते हो, तो जिस कठिनाई को तुम जीतना चाहते हो वह तुम्हारी चेतना में महत्त्व और तीव्रता में दसगुनी बढ़ जाती है। तुम्हें केवल डटे रहना है। बस इतना ही; वह चली जायेगी।

*

सभी कठिनाइयों के बावजूद मैं इसी विश्वास के साथ चलता हूं कि अगर मैं डटा रहूं, तो कठिन समय गुजर जायेगा। अगर मैं पराजय स्वीकार कर लूं तो मैं चला जाऊंगा।

यही उचित मनोवृत्ति है। इससे चिपके रहो और तुम विजय पा लोगे।

*

साधना हमेशा कठिन होती है और हर एक की प्रकृति में विरोधी तत्त्व होते हैं और प्राण को उसकी गहरी धंसी हुई आदतों से छुड़ाना कठिन होता है।

साधना छोड़ देने का यह कोई कारण नहीं है। तुम्हें केन्द्रीय अभीप्सा को बनाये रखना चाहिये जो हमेशा सच्ची होती है और सभी क्षणिक असफलताओं के बावजूद आगे बढ़ते जाना चाहिये। तब परिवर्तन आयेगा ही आयेगा।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

३ मई, १९३९

*

रुकावटों की क्या परवाह है, हम सदा आगे बढ़ेंगे।

*

उसकी परवाह नहीं! कठिनाइयां उन पर विजय पाने के आनन्द के लिए हैं। आगे बढ़ो, विश्वास रखो और सब कुछ ठीक होगा।

*

मेरे पास हमेशा वही बात होती है कहने को : शान्त विश्वास और साहस ही कठिनाइयों में से निकलने का एकमात्र रास्ता है।

*

पूर्ण मानसिक सन्तुलन : जीवन की कठिनाइयों का सामना करने के लिए अपरिहार्य।

*

कठिनाइयों को जीतने के लिए आह की अपेक्षा मुस्कान में ज्यादा शक्ति है।

२७ दिसम्बर, १९४१

*

अग्निपरीक्षाएं सबके लिए हैं। उनका सामना करने के तरीके में फर्क होता है। कुछ लोग मुस्कुराते और कुछ बात का बतंगड़ बनाते हैं।

*

जब कभी चीजें कठिन हो जायें तो हमें अचंचल और नीरव रहना चाहिये।

११ अप्रैल, १९५४

*

कोई भी कठिनाई क्यों न हो, अगर हम सचमुच शान्त रहें तो समाधान मिल जायेगा।

८ अगस्त, १९५४

*

भ्रान्तियां सोपान बन सकती हैं और अंधेरे में टटोलना विजयों में बदल सकता है।

८ दिसम्बर, १९५४

*

अपनी अभीप्सा को स्थिर रखना और अपने-आपको पूरी सचाई के साथ देखना बाधाओं पर विजय पाने के निश्चित उपाय हैं।

१० मई, १९५५

*

सभी कठिनाइयां श्रद्धा की दृढ़ता की जांच करने के लिए हैं।

१३ जून, १९५६

*

अन्तरात्मा के आन्तरिक बल से जीवन की आंखों में देखो और परिस्थितियों के स्वामी बन जाओ।

११ सितम्बर, १९५६

*

दिव्य जननी, मुझे वह आवश्यक शक्ति प्रदान करें जिससे मेरी निम्नलिखित प्रार्थना सार्थक हो जाये :

माताजी और श्रीअरविन्द के बालक के नाते मुझे 'सत्य' में सबसे अधिक रस है। वर दे कि इस 'सत्य' की, इस 'उज्ज्वल सूर्य' की गतिविधि को 'प्रकृति' में छिपा हुआ घमंड का पहाड़ विकृत न कर पाये। मुझे क्षुद्रता से ऊपर उठा।

आंशिक दृष्टि को समग्र की दृष्टि को छिपाने मत दो और एक कदम के ब्योरे 'लक्ष्य' पर रहने वाली एकाग्रता में रुकावट न डाल सकें।

आशीर्वाद।

१४ मई, १९६३

*

मैं माताजी से प्रार्थना करूंगा कि कृपा करके मुझे प्राणिक प्रकृति द्वारा हर चीज को नाटक का रूप देने का अर्थ समझा दें।

मेरे कहने का मतलब यह था कि जीवन हमेशा कठिनाइयों, संकटों और दुःखों से भरा होता है। यह एक सामान्य तथ्य है और हर एक को उनमें से अपने हिस्से का सामना करना पड़ता है। उनका सामना करने का एक ही सही तरीका है : टिके रहना और अपनी रुचि, आशा और श्रद्धा को आन्तरिक जीवन और भगवान् की ओर अभिमुख चेतना में बनाये रखना जो भगवान् के लिए अभीप्सा करती हो और भगवान् की 'शक्ति' तथा 'सहायता' को ग्रहण करने योग्य हो। लेकिन प्रायः प्राणिक सत्ता या उसका कोई भाग हर एक कठिनाई को नाटकीय महत्त्व देने में विकृत रस लेने लगता है और इस तरह आन्तरिक सत्ता और भगवान् की शक्ति से सम्बन्ध काट देता है।

यह बुरी आदत जो अधिकतर लोगों में फैली हुई है, बन्द की जानी चाहिये। तब हर एक अनुभव करेगा कि वह बहुत मूर्त रूप में, जीवन की अग्निपरीक्षाओं में से निकलने लायक आवश्यक सहायता पा रहा है।

२ फरवरी, १९६४

*

हमारी अग्निपरीक्षाएं हमारी प्रतिरोधक शक्ति से अधिक कभी नहीं होतीं।

*

कठिनाइयां सबल लोगों के लिए होती हैं और उन्हें अधिक बलवान् बनने में सहायता देती हैं।

डटे रहो और तुम्हारी जीत होगी। विश्वास रखो कि मेरी सहायता, मेरा बल और आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ हैं।

सप्रेम।

१२ जुलाई, १९६६

*

अग्निपरीक्षाएं सबके लिए हैं—उनका सामना करने का तरीका हर

एक का अलग होता है।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२१ अप्रैल, १९६७

*

तुम्हारी कठिनाई में से निकलने का एक ही मार्ग है, अपने चैत्य पुरुष को खोजो और पूरी तरह उसी की चेतना में रहो।

धरती का वर्तमान जीवन दुःख-कष्टों से भरा है और हर संवेदनशील हृदय उसके कारण दुःखी है। इस कठिनाई और दुःख में से निकलने का एक ही सच्चा प्रभावशाली उपाय है—भागवत चेतना के साथ सम्पर्क में आना और उसकी दया, उसके बल और उसके प्रकाश में जीना। और चैत्य के साथ एक होकर हम इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

इस उद्देश्य में मेरी सहायता और मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

६ अप्रैल, १९६९

*

भगवान् की भुजाओं में आश्रय लेने से सभी कठिनाइयों का समाधान हो जाता है क्योंकि ये प्रेमभरी भुजाएं हमें शरण देने के लिए हमेशा फैली रहती हैं।

*

जब सब कुछ उल्टा हो रहा हो तो यह याद रखना आना चाहिये कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं।

*

भगवान् हमारे बीच उपस्थित हैं। जब हम 'उन्हें' हमेशा याद करते हैं तो 'वे' हमें सब परिस्थितियों का पूर्ण शान्ति और समचित्तता के साथ सामना करने का बल प्रदान करते हैं। 'उपस्थिति' के बारे में सचेत होओ तो तुम्हारी कठिनाइयां गायब हो जायेंगी।

७ नवम्बर, १९७०

*

भगवान् के प्रति सतत अभीप्सा के साथ अन्तर में निवास करना—हमें जीवन को मुस्कान के साथ देखने और बाहरी परिस्थितियां चाहे जैसी हों उनमें शान्त रहने में समर्थ बनाता है।

*

अन्तर में निवास करो, बाहरी परिस्थितियों से विचलित न होओ।

(२६ जुलाई, १९७१)

*

केवल भगवान् के लिए जीना : इसका अर्थ है व्यक्तिगत जीवन की सभी कठिनाइयों पर विजय पा लेना।

*

He who lives to serve the Truth is not affected by outward circumstances.

जो 'सत्य' की सेवा करने के लिए जीता है उस पर बाह्य परिस्थितियों का असर नहीं होता।

भूलें

भूलें मिटायी जा सकती हैं

अगर भूल-भ्रान्तियों को हर क्षण मिटाया न जा सकता तो संसार के त्राण की कोई आशा न होती।

*

जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं को बहुत ज्यादा महत्त्व न दो।

इन घटनाओं का महत्त्व इसमें है कि उन्होंने प्रगति करने में तुम्हारी किस हद तक सहायता की है।

और एक बार प्रगति हो जाये तो पिछली भूलों के परिणाम, यदि कोई परिणाम हैं तो भागवत कृपा के हस्तक्षेप से गायब हो जाते हैं।

*

'परम प्रभु' के लिए पाप का अस्तित्व नहीं है। सभी त्रुटियां सच्ची अभीप्सा और रूपान्तर द्वारा मिटायी जा सकती हैं।

तुम जो अनुभव कर रहे हो वह तुम्हारी अन्तरात्मा की अभीप्सा है जो भगवान् को खोजना और 'उन्हें' जीना चाहती है।

लगे रहो, अधिकाधिक सच्चे बनो और तुम सफल होओगे।

२४ अप्रैल, १९६४

*

पाप दुनिया की चीज है, योग की नहीं।

*

अगर तुम जीवन में एक भूल करो तो हो सकता है कि तुम्हें सारे जीवन कष्ट उठाना पड़े। इसका यह अर्थ नहीं है कि हर एक को इस तरह कष्ट झेलना पड़ता है। ऐसे लोग हैं जो भूलें करते जाते हैं फिर भी उन्हें कष्ट नहीं होता। लेकिन जो आध्यात्मिक जीवन के लिए पैदा हुए हैं उन्हें बहुत सावधान रहना चाहिये।

भूलें : सन्ताप, चिन्ता या दुःख मत करो

अगर अपात्रता का भाव तुम्हें उमड़ती हुई कृतज्ञता से भर देता है और आनन्दातिरेक के साथ श्रीअरविन्द के चरणों पर डाल देता है तो जान लो कि यह सच्चे मूल स्रोत से आता है। इसके विपरीत यदि वह तुम्हें दीन-दुःखी बनाकर तुममें छिप जाने या भाग जाने का आवेग लाता है तो तुम निश्चित रूप से जान सकते हो कि इसका स्रोत विरोधी है। पहले की ओर तुम मुक्त रूप से खुल सकते हो, दूसरे को अस्वीकार करना चाहिये।

४ फरवरी, १९३३

*

तुम्हें अपने-आपको अपनी की गयी भूलों के लिए पीड़ा न देनी चाहिये, परन्तु तुम्हें *अपनी अभीप्सा में पूर्ण सचाई रखनी* चाहिये और अन्त में सब कुछ ठीक हो जायेगा।

४ जनवरी, १९३४

*

अपनी अशुद्धियों के बारे में बहुत ज्यादा सोचना सहायता नहीं करता। तुम जो पवित्रता, प्रकाश और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो उन पर अपने विचार को स्थिर रखना ज्यादा अच्छा है।

७ फरवरी, १९३४

*

हमेशा हमारी कमजोरियां ही हमें उदास करती हैं, हम मार्ग पर एक कदम आगे बढ़कर आसानी से पुनः स्वस्थ हो सकते हैं।

१२ मई, १९३४

*

मैं अपने अन्दर 'आपकी' उपस्थिति के बारे में सचेतन होने के लिए

जितना अधिक प्रयास करता हूं उतनी ही अधिक कोई चीज मेरे रास्ते में आती है।

तुम्हें इन छोटी-मोटी चीजों के बारे में चिन्ता नहीं करनी चाहिये—इनका अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं है। उनका मूल्य हमें यह दिखाने में है कि हमारी प्रकृति में अभी तक अचेतना कहां मौजूद है ताकि हम वहां प्रकाश ला सकें।

१३ जुलाई, १९३४

*

अपूर्णताएं और त्रुटियां देखना ठीक है लेकिन केवल इस शर्त पर कि वह नयी प्रगति के लिए अधिक साहस लाये, और लाये तुम्हारे संकल्प में अधिक बल तथा विजय और भावी पूर्णता में दृढ़तर विश्वास।

२२ जनवरी, १९३५

*

अयोग्यता के ये विचार वाहियात हैं, ये प्रगति के सत्य का निषेध हैं—अगर अभीप्सा बनी रहे तो जो आज नहीं किया जा सकता वह फिर किसी दिन किया जायेगा।

६ फरवरी, १९३५

*

चीजें भले वैसी न हों जैसी होनी चाहियें लेकिन चिन्ता उन्हें सुधारने में सहायता नहीं करती। निश्चल विश्वास बल का स्रोत है।

११ नवम्बर, १९३६

*

जब कभी तुमने कोई भूल की है तो मैंने तुमसे छिपाये बिना स्पष्ट रूप से कह दिया है। हर एक भूलें करता है और हर एक को सीखना और प्रगति करनी है। और फिर तुम्हें तो मैंने एक बड़ा उत्तरदायित्व दिया

है। तुमने जो किया है उसकी मैं पूरी तरह सराहना करती हूं लेकिन अभी बहुत कुछ सीखने के लिए बाकी है और मुझे विश्वास है कि ज्ञान और अनुभव पाने में तुम्हें बड़ी खुशी होगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१३ अक्तूबर, १९४३

*

भूतकाल के बारे में सोचते रहना बिलकुल गलत है। सच्ची वृत्ति यह है कि यह याद रखो कि भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता और चुपचाप उसके आगे झुक जाओ। अगर भूतकाल में तुमने भूलें की हैं तो वे सच्चे समर्पण के अभाव के कारण थीं और भूलों को सुधारने का एकमात्र तरीका है सच्चाई के साथ समर्पण करना।

*

लेकिन यह उसके बारे में विचलित हो जाने का कोई कारण नहीं है। बस एकदम ठंडे रह कर मानव प्रकृति की लगायी हुई सीमाओं के भीतर अपना अच्छे-से-अच्छा करो।

आखिर *पूरी-की-पूरी जिम्मेदारी* 'प्रभु' की है और किसी की नहीं। इसलिए चिन्ता करने की कोई बात नहीं है।

*

अपनी भूलों को पहचानना अच्छा है लेकिन तुम्हें सन्ताप नहीं करना चाहिये।

तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिये बल्कि अपने-आपको ठीक करना चाहिये।

*

मां, मैं थक गया हूं क्योंकि हर रोज कोई नया संकट मेरे ऊपर आ गिरता है।

मेरे प्यारे बालक,

तुम्हें इन छोटे-छोटे अनिष्टों के लिए अपने-आपको सन्ताप नहीं पहुंचाना

चाहिये। बहुत शान्त बने रहो और ये दुर्घटनाएं आगे से न होंगी।
मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

*

आज डबलरोटियां (बन) फूलीं नहीं, पता नहीं क्यों। हमें डर था कि डबलरोटियां अच्छी नहीं बनीं इसलिए अन्त में हमने "साब्ले", एक तरह का बिस्कुट, बनाया और वह भी जल गया।

मां, हमें बतायेंगी कि चीजें हमारे विरुद्ध क्यों जाती हैं?

तुम्हें इन छोटी-मोटी चीजों के बारे में चिन्ता नहीं करनी चाहिये, और सब से बढ़कर यह कि दुर्भाग्य पर विश्वास मत करो। इन छोटी-मोटी असफलताओं के पीछे हमेशा कोई कारण होता है, कुछ अधिक अनुभव के द्वारा उनसे बचा जा सकता है, और वह निश्चय ही आयेगा।

मैंने डबलरोटी चखी—स्वाद बहुत अच्छा है। वे इसलिए नहीं फूलीं क्योंकि उन्हें पर्याप्त सेका नहीं गया। चूल्हा बहुत ज्यादा गरम होगा, इससे रोटी जल गयी और अन्दर पकने से पहले बाहर का रंग भूरा होने लगा।

"साब्ले" के बारे में : वे जले नहीं, वे बहुत अच्छे बने हैं।

मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

भूलें : पहचानो और उन्हें सुधारो

जब कोई भूल हो तो उसका हमेशा प्रगति करने के लिए उपयोग करना चाहिये, एक बार आवश्यक परिवर्तन हो जाये तो भूल और उसका कारण गायब हो जाते हैं और वह अपने-आपको कभी दोहरा नहीं सकती।

६ *अप्रैल,* १९३७

*

यह बहुत अच्छा है कि तुम अपनी प्रकृति की भूलों और त्रुटियों से अवगत हो गयी हो। एक बार जान लेने पर उनमें से बाहर निकल आना

और स्वभाव को बदलना हमेशा सम्भव होता है।

२३ जनवरी, १९३८

*

इसके विपरीत, मुझे ऐसा लगता है कि सबसे अच्छा तरीका यह है कि तुम वहीं रहो जहां हो और स्वयं अपनी गलतियों को खोजने का प्रयास करो—अन्य सभी की तरह तुम्हारे अन्दर भी कुछ होंगी—और उन्हें ठीक करने की कोशिश करो। अपनी भूलों के बारे में सचेतन होना किसी कठिनाई से बाहर निकल आने का सबसे निश्चित तरीका है।

*

पहचान ली गयी भूल क्षमा की गयी भूल होती है।

१४ अक्तूबर, १९३९

*

अस्वीकार की गयी भूल ऐसी भूल है जिसे तुम सुधारने से इन्कार करते हो।

*

पश्चात्ताप : भूलें ठीक करने की ओर पहला कदम।

*

अपनी सफाई देने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे अन्दर यह संकल्प होना चाहिये कि एक बार जो भूल तुम कर चुके हो उसमें वापिस न गिरोगे।

*

हर रात, सोने से पहले हमें यह प्रार्थना करनी चाहिये कि जो भूलें हमने दिन में की हों वे भविष्य में दोहरायी न जायें।

२० जून, १९५४

*

साल के इस अन्तिम दिन, आओ हम यह संकल्प करें कि विदा होते हुए वर्ष के साथ हमारी सारी कमजोरियां और हमारे सभी दुराग्रही अन्धकार भी झड़ जायें।

३० दिसम्बर, १९५४

*

वही भूलें न दोहराने का दृढ़ और प्रभावी संकल्प और भागवत कृपा पर पूर्ण विश्वास ही एकमात्र उपचार है।

२८ फरवरी, १९५५

दुर्बलताएं

भय

भय हमेशा ही बहुत बुरा सलाहकार होता है।

*

भय, न्यूनाधिक सचेतन भय ही है जो सारी शरारत कर रहा है। भय न हो तो कुछ भी अन्यथा घटित नहीं हो सकता।

*

डरो मत, अपनी आस्था बनाये रखो, ये सारी तकलीफें तुम्हें छोड़ जायेंगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

*

डरना छोड़ दो और परेशानियां भी बन्द हो जायेंगी।

मेरे बालक को डर नहीं लग सकता।

आशीर्वाद।

*

मेरी सुरक्षा हमेशा तुम्हारे साथ है और कोई अनिष्ट नहीं घट सकता।

लेकिन तुम्हें डर को झाड़कर दूर फेंक देने का निश्चय करना होगा और तब मेरी शक्ति पूरी तरह से काम कर सकेगी।

२७ अक्तूबर, १९३७

*

अपने-आपको सन्तप्त मत करो, चिन्ता मत करो, सबसे बढ़कर समस्त भय को निकाल बाहर करने का प्रयास करो; भय एक खतरनाक चीज है जो किसी ऐसी चीज को महत्त्व दे सकती है जिसका कोई महत्त्व न हो।

अमुक लक्षणों को फिर से आते हुए देखने का भय ही उन्हें फिर से लाने के लिए काफी है।

२४ जुलाई, १९४५

*

यह भय स्नायुओं की और प्राण की दुर्बलता के कारण आता है। योग पथ का अनुसरण करने के लिए किये गये किसी भी प्रयास से पहले इस भय से पिंड छुड़ाना चाहिये।

९ मार्च, १९४९

*

योग और भय साथ-साथ नहीं चल सकते।

*

तुम इसलिए डर गये क्योंकि जब तुम एकाग्र होने की कोशिश करते हो तो तुम्हें ऐसा लगता है मानों तुम्हारी सांस रुक गयी। अगर तुम भयों से इतने भरे हुए हो तो इस पथ पर मत आओ। मान लो कुछ बुरे-से-बुरा हो जाये तो क्या होगा? तुम मर सकते हो—और फिर? अगर तुम मर गये तो कौन-सी बड़ी क्षति हो जायेगी? हमारा योग भीरुओं के लिए नहीं है; अगर तुम्हारे अन्दर साहस नहीं है, तो ज्यादा अच्छा है इसे छोड़ दो—तुम्हारे भय विनाश लायेंगे।†

*

जो भगवान् का है उसे भला किस बात का डर? क्या वह भगवान् के बताये मार्ग पर विस्तृत होती अन्तरात्मा और प्रदीप्त मस्तक के साथ नहीं चल सकता, भले ही वह मार्ग उसकी सीमित तर्कबुद्धि के लिए एकदम से अबोध्य ही क्यों न हो?

१४ अक्तूबर, १९५४

*

समस्त भय पर विजय पानी चाहिये और उसके स्थान पर 'भागवत कृपा' में पूर्ण आस्था स्थापित करनी चाहिये।

६ जून, १९५५

*

हर महीने के कुछ दिनों में ऐसा होता है कि जब मैं रात को अपनी खाट पर सोता हूं तो खिड़की से मेरे मुंह और बदन पर चांदनी पड़ती है। क्या सोते समय मेरे ऊपर चांदनी पड़ने से कोई हानि हो सकती है? मैं इसलिए पूछ रहा हूं क्योंकि किसी ने मुझसे कहा है कि इसका बुरा असर हो सकता है और मुझे खिड़की बन्द कर देनी चाहिये। लेकिन मुझे चन्द्रमा और चांदनी से बहुत प्यार है। वे मुझे आपकी 'शुभ्र ज्योति' की याद दिलाते हैं। मुझे बतलाने की कृपा करें कि क्या सोते समय चांदनी का पड़ना हानिकर होता है?

अगर तुम्हें डर न लगे तो कोई हानि नहीं है। चन्द्रमा नहीं, भय हानिकर है।

९ मई, १९६३

*

अगर तुम डरो *नहीं* तो तुम्हें कोई चीज हानि नहीं पहुंचा सकती।

इसलिए डरो मत, शान्त और निश्चल रहो—सब कुछ ठीक हो जायेगा।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१५ अक्तूबर, १९६६

*

सबसे पहली चीज जिससे बचने को तुम्हें हमेशा के लिए अपना उपचार करना होगा वह है *भय*।

यह खराब से खराब रोग से भी अधिक खतरनाक है।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ अक्तूबर, १९६७

*

डर की *कोई बात* नहीं है—सब कुछ 'परम प्रभु' हैं—'परम प्रभु' के सिवाय *और कुछ नहीं है; एकमात्र* भगवान् का ही अस्तित्व है और जो कुछ हमें डराने की कोशिश करता है वह केवल भगवान् का मूर्खतापूर्ण और अर्थहीन छद्मवेश है।

हिम्मत रखो—तुम्हारे सामने मार्ग खुला है, बीमारी की इस मोहग्रस्तता को झाड़ फेंको और 'भागवत शान्ति' को नीचे उतारो।

तब सब कुछ ठीक हो जायेगा।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

*

माताजी, मैं बहुत बेचैन हूं। दिव्य शक्ति के बारे में सन्देह उठते हैं, सब तरह की कष्टकर चीजें आती हैं। मुझे लगता है कि थोड़ा-थोड़ा करके मेरा दम घुट रहा है। मेरे सिर में दर्द है जो इधर-उधर फिरता रहता है। यह भयंकर है। मुझे लगता है कि मैं किसी तामसिक, जड़ और अन्धकारभरी चीज से बंधा हूं। मैं इससे पिंड नहीं छुड़ा पा रहा। मां, मेरी सहायता करो, मेरी समझ में नहीं आता क्या करूं, सब कुछ अंधेरा, अंधेरा, अंधेरा है। पता नहीं मैं कब तक इसके आगे डटा रह सकूंगा। यह कोई ऐसी चीज है जो धीरे-धीरे मेरी शक्ति को चूस लेना और मुझे अपने अन्दर समा लेना चाहती है। मां, मेरी सहायता करो, सचमुच मैं नहीं जानता कि मुझे क्या करना चाहिये।

तुम्हें डरना नहीं चाहिये। भगवान् पर पूरा भरोसा रखो। वे 'प्रेम', 'प्रकाश' और 'जीवन' हैं।

८ मार्च, १९७२

*

कुशलपूर्वक सिद्धपुर जाओ और *डरो मत।*

केवल भय ही कष्ट पहुंचाता है, "प्रेतात्माएं" नहीं। जब ऐसे लोग तुम्हारे सामने प्रकट होते हैं जो अपना शरीर छोड़ चुके हैं, तो तुम्हें डरना

न चाहिये। साधारणतः ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वे बेचैन होते हैं, उन्हें शान्ति नहीं मिलती---उन्हें शुभेच्छा दो और सद्‌भावना दो कि उन्हें शान्ति मिले और यह सब समाप्त हो जायेगा।

बहरहाल, तुम उन सत्ताओं से कह सकते हो कि माताजी के पास जाओ और फिर वे तुम्हें तंग न करेंगी।

सिद्धपुर जाओ और अगर वहां कोई अप्रिय संगति है तो उससे बचो। लेकिन हमेशा याद रखो कि केवल भय ही हानि पहुंचाता है और 'भागवत कृपा' पर विश्वासपूर्ण श्रद्धा रखो तो तुम सुरक्षित रहोगे।

*

तुम भय से पूर्णतया मुक्त तब हो सकते हो जब तुम अपने अन्दर से समस्त हिंसा को निकाल बाहर करो।

*

समस्त हिंसा से मुक्त हो जाओ और तुम्हारे अन्दर कोई भय नहीं रह जायेगा।

*

भय गुप्त स्वीकृति है। जब तुम किसी चीज से डरते हो तो इसका यह अर्थ है कि तुम उसकी सम्भावना को स्वीकार करते हो और इस तरह उसकी पकड़ को मजबूत बना देते हो। कहा जा सकता है कि यह अवचेतन स्वीकृति है। भय को बहुत से तरीकों से जीता जा सकता है। साहस, श्रद्धा, ज्ञान उनमें से कुछ एक हैं।†

*

भय दासता है, कार्य स्वतन्त्रता है, साहस विजय है।

सन्देह

सन्देह कोई ऐसा खेल नहीं है जिसमें तुम निर्भय होकर खुल खेलो।

यह एक ऐसा विष है जो बूंद-बूंद करके आत्मा को नष्ट करता है।

*

हमें सभी सन्देहों से मुक्त होने का निश्चय करना चाहिये, वे हमारी प्रगति के बुरे-से-बुरे शत्रु हैं।

२९ जुलाई, १९५४

अवसाद

अवसाद के हमलों से कैसे बचा जाये?

अवसाद पर ध्यान न दो और इस तरह काम करते जाओ मानों उसका अस्तित्व ही न हो।

३१ मार्च, १९३४

*

मेरा हृदय शुष्कता, उदासी और अन्धकार का अनुभव करता है, मां।

तुम कुछ सुन्दर और रुचिकर चीज पढ़कर अपनी ओर से ध्यान हटाने की कोशिश क्यों नहीं करते? यह उत्तम उपचार है।

६ सितम्बर, १९३५

*

इन सब हास्यास्पद विचारों में मग्न मत रहो। "पागलपन", "नरक" और "अंधेरी कोठरी" ये सब तुम्हारी कल्पना में हैं।

ज्यादा अच्छा हो कि तुम उनके स्थान पर मेरे प्रेम और आशीर्वाद के भाव को स्थापित करो।

१ अक्तूबर, १९३७

*

मेरे प्यारे बालक, मुझे आशा है कि तुम्हारी कविता केवल कविता है और तुम सचमुच किसी अवसाद में नहीं फंसे हो। सचमुच, अवसाद सभी बीमारियों में सबसे बुरी बीमारी है और हमें उतनी ही शक्ति के साथ उसका त्याग करना चाहिये जितनी शक्ति का उपयोग बीमारी से छूटने के लिए करते हैं।

हमेशा मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

३० जनवरी, १९४६

*

आज की रात हम अवसाद और उदासी के भूत का वध करेंगे—ताकि वे सभी जिनमें इस बीमारी से मुक्ति पाने की सच्ची निष्कपट इच्छा है, इस पर विजय पाने के लिए आवश्यक सहायता प्राप्त करें।

२० अक्तूबर, १९५०

*

अवसाद हमेशा अयुक्तिसंगत होता है क्योंकि यह हमें कहीं नहीं पहुंचाता। यह योग का सबसे सूक्ष्म शत्रु है।

३१ मई, १९५५

*

मुझे बस एक ही बात कहनी है—अवसाद बुरा सलाहकार होता है। मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है। श्रद्धा रखो और तुम ठीक हो जाओगे। अवसाद ही तुम्हारा स्वास्थ्य बिगाड़ता है।

आशीर्वाद।

२८ अक्तूबर, १९६७

*

अहं ही अवसाद में डूब जाता है।

चिन्ता मत करो। अपना काम शान्ति के साथ करते चलो और अवसाद विलीन हो जायेगा।

१८ अगस्त, १९७१

*

अवसाद या विद्रोह के ऐसे क्षणों में अनुचित गतिविधि के आवेश में आकर कोई नया निर्णय नहीं लेना चाहिये, बल्कि व्यावहारिक रूप में शान्त अनुद्विग्न रहते हुए अपनी हमेशा की दिनचर्या में लगे रहना चाहिये।

*
**

जब तुम इस तरह दुःखी होते हो, तो इसका अर्थ यह है कि तुम्हें कोई प्रगति करनी है। तुम कह सकते हो कि हमें हमेशा प्रगति करनी चाहिये, यह सच है। लेकिन कभी-कभी हमारी प्रकृति आवश्यक प्रगति के लिए अपनी स्वीकृति देती है और तब सब कुछ सरलता से, यहां तक कि सुख से होता है। इसके विपरीत कभी-कभी वह भाग जिसे प्रगति करनी है, हिलने से इन्कार कर देता है और जड़ता, अज्ञान, लगाव या कामना के कारण अपनी पुरानी आदतों के साथ चिपका रहता है। तब, पूर्ण बनानेवाली शक्ति के दबाव के कारण वह संघर्ष दुःख या विद्रोह या कभी-कभी दोनों का रूप लेने लगता है।

एकमात्र उपचार है चुपचाप रहना, अपने अन्दर सचाई के साथ यह जानने के लिए देखना कि गड़बड़ कहां है और साहस के साथ उसे ठीक करने के लिए काम में जुट जाना।

अगर तुम्हारा प्रयास सच्चा, निष्कपट हो तो भागवत परम चेतना हमेशा तुम्हें सहायता देने के लिए तैयार होगी; तुम्हारा प्रयास जितना अधिक सच्चा होगा, भागवत परम चेतना उतनी ही अधिक सहायता और सहयोग देगी।

१९ मई, १९५२

*

अंधेरे काल बार-बार और सभी के लिए आया करते हैं। साधारणतः, यह जानते हुए कि ये आध्यात्मिक रातें हैं जो बारी-बारी से दिन के सम्पूर्ण प्रकाश में बदला करती हैं, चिन्ता किये बिना चुपचाप रहना पर्याप्त है। लेकिन शान्त रह सकने के लिए तुम्हें अपने हृदय में भगवान् के प्रति 'वे' जो कुछ सहायता दे रहे हैं उसके लिए कृतज्ञ होना चाहिये। अगर कृतज्ञता

पर पर्दा पड़ जाये, तो अंधेरे काल अधिक लम्बे हो जाते हैं। एक जल्दी से हो जाने वाला कारगर उपचार भी है : हमेशा अपने हृदय में पवित्रता की अग्नि जलाये रखना, प्रगति के लिए अभीप्सा, तीव्रता, आत्मोत्सर्ग की उत्कण्ठा बनाये रखना। उन सभी के हृदय में यह लौ प्रज्ज्वलित होती है जो सच्चे और निष्कपट हैं; उसे कृतघ्नता की राख के नीचे दब न जाने दो।

*

तुम्हें एक बात याद रखनी चाहिये : अंधेरे काल अनिवार्य होते हैं। जब तुम्हारा चैत्य सक्रिय होता है तो तुम बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के एक आह्लाद का अनुभव करते हो। ऐसा कुछ समय चलता है और फिर से वही मानसिक और प्राणिक प्रतिक्रियाएं तुम्हारे अन्दर आ जाती हैं और तुम फिर अंधकार में लौट जाते हो। ऐसा होता रहेगा। उजाले दिन अधिक बड़े होते जायेंगे और अंधेरे काल लम्बे अन्तराल के बाद और कम समय के लिए आयेंगे जब तक कि वे पूरी तरह से विलीन न हो जायें। तब तक तुम्हें यह जानना चाहिये कि बादलों के पीछे सूरज है और तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे अन्दर शिशु-सा विश्वास होना चाहिये—यह विश्वास कि कोई है जो तुम्हारी देखभाल करता है और तुम पूरी तरह से उस पर निर्भर रह सकते हो।†

दुःख

तुमसे मुझे यह कहना है : दुःख को दुलारो मत और दुःख तुम्हें पूरी तरह छोड़ देगा। प्रगति के लिए दुःख अनिवार्य बिलकुल नहीं है। सबसे महान् प्रगति स्थिर और प्रसन्नतापूर्ण समचित्तता में की जाती है।

१० मई, १९३२

*

संसार दुःखों और क्लेशों से भरा है।

तुम्हें यह कोशिश करनी चाहिये कि तुम किसी अतिरिक्त दुःख का कारण न बनो।

१० अक्तूबर, १९७०

*

सभी मानवीय दुःखों का एकमात्र उपचार : भागवत प्रेम।

*

भगवान् की ओर मुड़ो, तुम्हारे सभी दुःख गायब हो जायेंगे।

*

जीवन के कष्टों को उसी रूप में न लो जैसे वे दीखते हैं; सचमुच वे अधिक महान् प्राप्ति के तरीके होते हैं।

आलस्य, थकान, श्रान्ति, तमस्

यह खतरनाक बीमारी है : आलस्य।

३० जुलाई, १९३६

*

थकान प्रगति की इच्छा के अभाव को दिखलाती है। जब तुम थकान या श्रान्ति का अनुभव करते हो तो वह प्रगति की इच्छा का अभाव होता है।

अग्नि हमेशा तुम्हारे अन्दर जलती रहती है।

*

तुम जो करते हो उसे बिना रुचि के करने से श्रान्ति आती है।

तुम जो कुछ करो उसमें रुचि ले सकते हो बशर्ते कि तुम उसे प्रगति के साधन के रूप में लो; तुम जो कुछ करो उसे तुम्हें अच्छे-से-अच्छा

करने की कोशिश करनी चाहिये। प्रगति का संकल्प हमेशा होना चाहिये और तब तुम जो कुछ करते हो उसमें रस लेते हो, चाहे वह कुछ भी हो। अगर तुम उसे इस दृष्टिकोण से लो तो एकदम नगण्य कार्य भी रुचिकर हो सकता है।

और बहुत अधिक आकर्षक और महत्त्वपूर्ण क्रिया भी तुम्हारे लिए अपनी सारी रुचि खो बैठती है अगर उसे करते समय किसी आदर्श पूर्णता के प्रति प्रगति करने का तुम्हारे अन्दर संकल्प न हो।

*

लगभग हर दसवें दिन मुझ पर श्रान्ति और क्षीणता का आक्रमण होता है जिसकी तमस् और निरुत्साह में बदल जाने की प्रवृत्ति होती है।

उस पर ध्यान न दो और अपनी सामान्य दिनचर्या के अनुसार चलते चलो।

इससे छुटकारा पाने का यही सबसे तेज उपाय है।

*

जब मैं काम करता हूं तो ठीक रहता हूं, थकान उसके बाद आती है। क्यों? इसके लिए क्या किया जाये?

इसका कारण यह है कि जब तुम काम करते हो तो शक्ति की ओर ग्रहणशील रहते हो और वह तुम्हें सहारा देती है। लेकिन जब तुम काम के दबाव में नहीं होते तो कम ग्रहणशील होते हो। तुम्हें हमेशा और सभी परिस्थितियों में ग्रहणशील होने की कोशिश करनी चाहिये—विशेषकर जब तुम आराम करो। तुम्हारा "आराम" तमस् का आराम नहीं बल्कि ग्रहणशीलता का सच्चा आराम होना चाहिये।

*

तूफान के पीछे विरोधी शक्तियां नहीं थीं; वह रूपान्तरकारी शक्ति से

भरा था। तुमने ठीक चीज की। मैं तुम्हें विश्वास दिला सकती हूं कि अपने-आपको उत्तेजित क्रियाकलाप में डाल देने की जगह अपने अन्दर जाना और शक्ति को ग्रहण करना अधिक सहायक है। निश्चय ही तमस् अच्छा नहीं है लेकिन केवल 'भागवत चेतना' के आगे समर्पण करने से ही तमस् को बदला जा सकता है।

*

मेरे अन्दर कौन-से दोष हैं जो मेरी आध्यात्मिक और भौतिक प्रगति की राह में आड़े आते हैं?

तमस् और सुस्ती।

अपने स्वभाव के इन दोषों से बचने के लिए मैं क्या करूं?

अधिकाधिक सचेतन बनो।

२२ अक्तूबर, १९६४

भौतिक कामनाएं

भौतिक जीवन से किसी तुष्टि की आशा न रखो तो फिर तुम उसके साथ बंधे न रहोगे।

*

भौतिक जगत् में, हमें जो स्थान पाना है उसके अनुसार हमारे जीवन और कार्य के लिए जो कुछ अनिवार्य हो वह हमें मिल जाता है।

हम अपनी आन्तरिक सत्ता के साथ जितने अधिक सचेतन रूप से सम्पर्क में हों, उतने ही अधिक यथार्थ साधन हमारे लिए जुटा दिये जाते हैं।

३ जून, १९७०

*

जिस चीज की सचमुच आवश्यकता हो वह निश्चय ही आयेगी।

*

चीजें तभी मांगनी चाहियें जब उनकी सचमुच जरूरत हो।

*

बुरी चीज है दासता। परहेज की दासता और उसी तरह जरूरतों की दासता। जो आये उसे हम स्वीकार करें लेकिन अगर वह जाये तो उसे छोड़ने के लिए तैयार रहें।

लोभ (भोजन के लिए)

भौतिक चेतना के साथ सम्बन्ध रखने वाली किसी भी चीज के लिए लोभ, तथाकथित आवश्यकताओं और किसी भी प्रकार के आराम के लिए लोभ—यह साधना-मार्ग की सबसे गम्भीर बाधाओं में से एक है।

लोभ से तुम जो भी छोटी-मोटी तुष्टियां पाते हो उनमें से हर एक लक्ष्य की ओर से एक पग पीछे हटना है।

*

जब तुम्हारे अन्दर कोई कामना होती है तो तुम उस चीज के अधीन होते हो जिसकी कामना कर रहे हो, वह तुम्हारे मन और जीवन पर अधिकार कर लेती है और तुम दास बन जाते हो। अगर तुम्हारे अन्दर भोजन के लिए लोभ हो तो तुम भोजन के स्वामी नहीं होते, भोजन तुम्हारा स्वामी होता है।

*

साधक को अपने शरीर की आवश्यकता पूरी करने के लिए खाना चाहिये, न कि अपने लोभ की मांग पूरी करने के लिए।

४ अप्रैल, १९३७

*

अगर तुम भगवान् के साथ ऐक्य की अपेक्षा जीभ के सुख को ज्यादा पसन्द करते हो तो यह तुम्हारा अपना मामला है और मुझे कुछ नहीं कहना सिवाय इसके कि मैं इसे पसन्द नहीं करती। लेकिन हर एक को यह चुनाव करने के लिए आजाद होना चाहिये कि वह अपनी निम्न प्रकृति से ऊंचा उठेगा या भौतिक गढ़े में जा धंसेगा। मेरी सहायता हमेशा उनके लिए रहती है जो उच्चतर मार्ग चुनते हैं।

*

आवश्यकता है आसक्ति और भोजन के लिए लोभ और जीभ की लालसाओं से मुक्ति की आन्तरिक वृत्ति की। अनुचित रूप से भोजन की मात्रा कम कर देने या अपने-आपको भूखा मारने की जरूरत नहीं है। तुम्हें शरीर के पोषण, उसके बल और स्वास्थ्य के लिए, किसी आसक्ति और कामना के बिना पर्याप्त मात्रा में भोजन करना चाहिये।

२७ अप्रैल, १९३७

*

यह सौगुना ज्यादा उपयोगी होगा कि भोजन को *कभी* नष्ट न किया जाये, इसकी जगह कि दिखावे के लिए एक समय भोजन न किया जाये और उससे पहले और पीछे अधिक खाया जाये।

भोजन के अपव्यय के विरुद्ध जोरदार, उत्साहभरा आन्दोलन जरूरी है और मैं पूरे तौर से उसका समर्थन करती हूं।

आश्रमवासी इस दिशा में सद्‌भावना और सहयोग दिखाने के लिए जितना हजम कर सकते हैं उससे *अधिक* कभी न खायें और जितना खा सकते हैं उससे अधिक कभी न मांगें।

*

कृपया कोई ऐसा सरल उपाय बतलाइये जिससे हम धीरे-धीरे सामान्य भौतिक भोजन पर नितान्त निर्भरता छोड़कर अपने-आपको वैश्व प्राणिक-ऊर्जा की ओर अधिकाधिक खोल सकें।

भौतिक पाशविकता और प्राणिक लोभ को पार करने का कोई सरल उपाय नहीं है। केवल आग्रहपूर्ण अध्यवसाय ही सफल हो सकता है।

कामनाएं, आवेग और आत्म-संयम

अगर हर एक स्वयं अपने ऊपर प्रभुत्व पाने और अपने आवेगों को नियन्त्रण में रखने का निश्चय कर ले तो स्थिति अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

जब लोग अपनी चेतना को विक्षुब्ध रहने देते हैं तो उनका जीवन भी विक्षुब्ध बन जाता है।

*

आवेगशील पुरुष जो अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं कर सकता उसका जीवन अव्यवस्थित होता है।

*

पहले अपने-आपको पूर्णतः जानना सीखो, फिर अपने-आप पर पूर्ण नियन्त्रण रखना सीखो। तुम हर क्षण अभीप्सा करके यह पा सकते हो। आरम्भ करने के लिए कभी 'बहुत जल्दी' नहीं होती और जारी रखने के लिए कभी 'बहुत देर' नहीं होती।

*

निम्नतर आवेगों के ऊपर *नियन्त्रण* उपलब्धि की ओर पहला चरण है।

*

कामनाओं का त्याग : उपलब्धि के लिए अनिवार्य शर्त।

*

हां, हमें अपनी चेतना का आसन उच्चतर सत्ता में रखना चाहिये और हम जो कुछ करें वहीं से करें। हम निम्नतर, अन्ध और स्वार्थपूर्ण गतिविधियों

और प्रतिक्रियाओं को अपना काम बिगाड़ने न दें।

*

अगर वास्तविकता का यह अर्थ है कि हम निम्न प्रकृति की कुरूपता को इस बहाने स्वीकार कर लें कि उसका अस्तित्व है, तो यह साधना का कोई अंग नहीं है। हमारा लक्ष्य इन चीजों को स्वीकार करना और उनका मजा लेना नहीं बल्कि उनसे पिंड छुड़ाना और आध्यात्मिक सुन्दरता और पूर्णता के जीवन का निर्माण करना है। जब तक हम इन कुरूपताओं को स्वीकार करते हैं तब तक वह नहीं किया जा सकता।

यह जानना कि वे हैं और उन्हें अस्वीकार करना, उन्हें अपना स्पर्श न करने देना एक चीज है, उन्हें स्वीकार करना और उनके आगे झुक जाना एकदम अलग चीज है।

*

जो कुछ तुम्हें नीचे खींचता हो उससे सावधान। किसी निम्नतर वृत्ति के आगे न झुको। भगवान् के लिए अपनी अभीप्सा को अक्षुण्ण बनाये रखो।

*

कामनाओं के आगे झुकना उनसे पिंड छुड़ाने का तरीका नहीं है। कामनाओं का कहीं अन्त नहीं है। प्रत्येक सन्तुष्ट कामना के स्थान पर एक और आ जाती है और वे अधिकाधिक शोर मचाती जाती हैं।

इस निम्नतर चेतना में से बाहर निकलकर उच्चतर चेतना में उठकर, कामनाओं पर विजय पाकर ही तुम उनसे पिंड छुड़ा सकते हो।

२१ अप्रैल, १९३०

*

जो कुछ तुम्हें भगवान् से दूर ले जाता है उसके साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न रखो।

१८ अक्तूबर, १९३४

*

अगर तुम अपने अन्दर मेरी उपस्थिति के बारे में सचेतन होना चाहते

हो और विरोधी आक्रमणों से छुटकारा पाना चाहते हो तो तुम्हें अपनी कामनाओं को सन्तुष्ट करने के किसी भी प्रयास को त्याग देना चाहिये। जब प्राण यह आशा खो बैठता है कि उसकी कामनाएं सन्तुष्ट होंगी तभी वह आध्यात्मिक बनना स्वीकार करता है।

मेरी सहायता और मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

३ सितम्बर, १९३५

*

जो कामना यह जानती है कि उसे कभी सन्तुष्ट नहीं किया जायेगा, वह एकदम गायब हो जाती है।

*

अगर धरती पर कभी कोई दिव्य वस्तु प्रतिष्ठित करनी है तो सभी निम्नतर हरकतों को जीतना होगा।

१८ मार्च, १९३६

*

अपने-आप पर नियन्त्रण करने से बढ़कर कोई और विजय नहीं है।

३ मई, १९५४

*

यह अनिवार्य है कि तुम अपनी सत्ता की निम्नतर गतिविधियों का अनासक्त और वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट दृष्टि और अन्तर्दृष्टिवाले साक्षी की तरह अवलोकन करो। लेकिन तुम्हें इन गतिविधियों को इस तरह प्रकट होने या अधिकार जमाने न देना चाहिये मानों उन्हें बने रहने और बाकी सत्ता पर शासन करने का अधिकार हो। दूसरे शब्दों में कहें तो तुम्हें कभी इन गतिविधियों के आवेश में आकर कार्य न करना चाहिये। उनके सुझावों को कभी वाणी या कर्म में शारीरिक रूप से परिणत न करो, कभी बाहरी या भीतरी मुद्राओं द्वारा भी उनकी आज्ञाओं को कार्यान्वित न होने दो।

१९ सितम्बर, १९५६

*

अचंचल रहो। अपने-आपको अनासक्त रखने की कोशिश करो और आवेश में आकर कार्य करने की समस्त सम्भावना को रोकने के लिए साक्षी की तरह अवलोकन करो।†

*

आवेश में आकर काम न करो।

*

यह कभी न भूलो कि जितना बाहर उतना ही आश्रम में भी, अगर तुम सुखी जीवन बिताना चाहते हो तो तुम्हें अपनी निम्न प्रकृति का स्वामी होना चाहिये, अपनी कामनाओं और प्राणिक आवेशों पर नियन्त्रण करना चाहिये अन्यथा तकलीफों और मुसीबतों का कहीं अन्त न होगा।

२० सितम्बर, १९६०

*

जीवन के प्रत्येक क्षण तुम्हें भागवत कृपा और निजी सन्तुष्टि के बीच चुनाव की उपस्थिति में खड़ा किया जाता है।

१३ सितम्बर, १९६१

*

तुम अपने-आपको दुर्बल बनाकर नहीं, केवल बल, सन्तुलन और शान्ति में ही अपनी कामनाओं पर विजय पा सकते हो।

७ जून, १९६४

*

अगर तुम अपनी कामनाओं के स्वामी नहीं हो तो तुम अपने विचारों के स्वामी नहीं हो सकते।

२२ अगस्त, १९६४

*

कभी-कभी आप हमारी कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के लिए भी "ठीक है" कह देती हैं।

भागवत कृपा पथ पर प्रगति के लिए कार्य करती है। कामना की सन्तुष्टि भी कामना की व्यर्थता को दिखाकर उस कार्य को सिद्ध कर सकती है।

हो सकता है कि बीते हुए कल की अच्छाई आने वाले कल के लिए अच्छी न रहे।

इसलिए अपनी प्रेरणा का अनुसरण करो और मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

३० मई, १९६८

*

तुम्हें मेरा प्रेम, मेरी कृपा और मेरे आशीर्वाद प्राप्त हैं।

लेकिन अगर तुम उन्हें अनुभव करना चाहो तो तुम्हें अनुशासित, सतर्क और एकाग्र रहना चाहिये, सबसे बढ़कर तुम्हें अपनी कामनाओं और सनकों में से किसी पर कान नहीं देना चाहिये।

जीवन में, मनुष्य को कामनाओं के अस्तव्यस्त और निरर्थक जीवन और अभीप्सा के प्रकाश तथा आरोहण और अपनी निम्न प्रकृति पर विजय के बीच चुनाव करना पड़ता है।

१६ जून, १९७१

*

न विषयासक्ति और न कामनाएं।

*

कामना की तुष्टि की अपेक्षा उस पर विजय अधिक आनन्द लाती है।

*

आत्म-संयम सबसे बड़ी विजय है। वह सारे चिरस्थायी सुख का आधार है।

*

इन्द्रियनिग्रह : अपने ऊपर नियन्त्रण।

*

संयमी होने का अर्थ है अपने अन्दर जो वृत्तियां भागवत इच्छा को अभिव्यक्त करने के लिए एकदम आवश्यक हैं उनके सिवा सत्ता की किसी भी वृत्ति को, मानसिक हो या प्राणिक और भौतिक, प्रवेश न करने देना।

अहंकार

अहंकार उसके बारे में सोचता है जो उसके पास नहीं है और जिसे वह चाहता है। वह निरन्तर इसी काम में व्यस्त रहता है।

अन्तरात्मा जानती है कि उसे क्या दिया गया है और वह अनन्त कृतज्ञता में निवास करती है।

*

अहंकार का उन्मूलन : व्यक्ति केवल भगवान् के लिए और भगवान् द्वारा ही जीता है।

*

जीवन की समस्त कटुता हमेशा केवल अहंकार से आती है जो पदच्युत होने से इन्कार करता है।

*

जो कुछ होता है वह हमें वही एक ही पाठ पढ़ाने के लिए होता है : जब तक कि हम अपने अहंकार से पिंड न छुड़ा लें तब तक न तो हमारे लिए और न औरों के लिए शान्ति हो सकती है। और अहंकार के बिना जीवन एक अद्‌भुत चमत्कार बन जाता है!...

*

हम भागवत मुस्कान का ध्यान तभी कर सकते हैं जब हम अहंकार पर विजय पा लें।

*

अहंकार के खेल के बिना कोई टकराहट नहीं होगी और अगर प्राण में नाटक करने की वृत्ति न हो तो जीवन में नाटकीय घटनाएं न घटेंगी।

*

हां, जो अपने अहंकार में रहते हैं वे सतत रूप से एक कुरूप नाटक में जीते हैं। अगर लोग जरा कम स्वार्थी होते तो चीजें जरा कम खराब होतीं।

तब तक हमें इन सब विरोधी परिस्थितियों का सामना धैर्य, सहिष्णुता और समचित्तता के साथ करना चाहिये।

२३ अक्तूबर, १९३५

*

तुम्हारी कठिनाइयों का परिमाण तुम्हारे अहंकार का माप दिखाता है।

२३ मार्च, १९५७

*

दिव्य मां,

मेरा दानवी शत्रु, अहंकार, ठीक मेरे रास्ते में बैठा है और मुझे निकलने नहीं देता। मैं उसके साथ किस तरह लड़ूं?

उसकी उपेक्षा करो और निकल जाओ।

१२ मई, १९६६

*

अपने अहंकार पर विजय पाना आसान काम नहीं है।

भौतिक चेतना में उस पर विजय पा लेने के बाद भी, हम फिर से, ज्यादा बढ़े-चढ़े रूप में, उसे आध्यात्मिक चेतना में पाते हैं।

स्वार्थपरता

हम अपने निजी दर्प और स्वार्थपरता से कैसे पिंड छुड़ा सकते हैं?

भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग और भागवत इच्छा के प्रति प्रेमभरे समर्पण द्वारा।

आशीर्वाद।

१५ मई, १९४४

*

अपनी ओर मुड़ा हुआ प्रत्येक विचार भगवान् पर पर्दा डाल देता है।

२५ अगस्त, १९४४

*

'भागवत उद्देश्य' की सेवा करने के लिए हमें स्वार्थपरता से पूरी तरह मुक्त होना चाहिये।

२६ मई, १९५४

*

स्वार्थपरता और आत्म-दया से कोई लाभ नहीं होता। ज्यादा अच्छा है कि तुम इन दोनों से पिंड छुड़ा लो—क्योंकि यही दो संकीर्ण गतिविधियां तुम्हें भगवान् की सहायता और उनके प्रेम का अनुभव करने से रोकती हैं।

२५ मार्च, १९६५

घमण्ड

घमण्ड : प्रगति में बहुत बड़ी बाधा।

*

अन्तरात्मा को नहीं, अहंकार और उसके घमण्ड को हार और मानमर्दन का अनुभव होता है।

अहंमन्यता

अहंमन्यता : मिथ्यात्व के सबसे अधिक पाये जाने वाले रूपों में से एक।

*

दीखने की अपेक्षा होना ज्यादा अच्छा है।
सच्ची महानता में अहंमन्यता सबसे गम्भीर बाधा है।

*

एक समय था जब तुम्हारा *आत्मसम्मान* बहुत बड़ी सहायता था। उसने तुम्हें बहुत-सी बेवकूफियां करने से यह कहकर रोका कि ये तुम्हारी शान के विरुद्ध हैं लेकिन अब वह तुम्हारे रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है।†

महत्त्वाकांक्षा

माताजी, हमें हमेशा अहंकार के हस्तक्षेप से सावधान रहना चाहिये न?

निश्चय ही यह ठीक है। महत्त्वाकांक्षा हमेशा गड़बड़ और असमञ्जस का स्रोत होती है।

१६ मई, १९३४

*

मन और प्राण के अज्ञानभरे कामों से, किसी भी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा

से अपने-आपको अलग करके 'दिव्य मां' को अपना काम 'अपनी' इच्छा के अनुसार करने देकर आदमी आन्तरिक और बाह्य शान्ति और सुख पा सकता है। मेरा ख्याल है कि इस तरह हम सचाई और कृतज्ञता के साथ माताजी की सेवा कर सकते हैं। क्या यह ठीक है?

निश्चय ही। महत्त्वाकांक्षा और अहंकार-भरे हिसाब-किताब के बिना किया गया कार्य, बाहरी और भीतरी शान्ति और आनन्द की शर्त है।

*

सभी महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे एक 'सत्य' होता है जो अभिव्यक्त होने के लिए उचित समय की प्रतीक्षा में रहता है। अब जब कि महत्त्वाकांक्षा चली गयी तो सत्य (योग्यताओं और क्षमताओं) के अभिव्यक्त होने का समय आ गया।

बहुत सावधानी बरतो कि तुम कहीं "फूल" न उठो; लेकिन मैं तुम्हारे साथ हूं। कुछ मजेदार चीज करने के लिए तुम्हारी मदद कर रही हूं।

ईर्ष्या

मेरी सत्ता के एक भाग ने 'प्रणाम' के बाद दुःखी होने की बुरी आदत डाल ली है। उसे कुछ लोगों से ईर्ष्या होती है। क्या मेरे अन्दर इस बाधा को त्याग देने का बल नहीं होना चाहिये?

निश्चय ही। लेकिन तुम्हें यह चीज पूरी सचाई के साथ करनी चाहिये और ईर्ष्या की हरकतों को किसी भी रूप में स्वीकार न करना चाहिये।

१६ अप्रैल, १९३४

*

पता नहीं मेरा प्राण हमेशा 'क' से क्यों ईर्ष्या करता है। प्रकट रूप से इसका कोई उचित कारण नहीं है।

ईर्ष्या के लिए कभी कोई कारण नहीं होता। यह बहुत ही निम्न और अज्ञानभरी हरकत है।

२० अप्रैल, १९३४

*

ईर्ष्या मन की संकीर्णता और हृदय की दुर्बलता से आती है। बड़े खेद की बात है कि इतने सारे लोगों पर उसका आक्रमण होता है।

*

ईर्ष्या और उसका संगी मिथ्यापवाद दुर्बल और क्षुद्र व्यक्ति की उपज हैं।

क्रोध की अपेक्षा तरस ज्यादा आता है उस पर। हमें चाहिये कि हम उसके प्रति बिलकुल उदासीन बन जायें ताकि हम अविचल निश्चिति के आनन्द का रस ले सकें।

लड़ाई-झगड़े

तुम यह आशा नहीं कर सकते कि सारी दुनिया तुम्हारी सेवा में हो और सब कुछ उसी तरह से हो जैसा तुम अपने लिए ज्यादा सुविधाजनक समझते हो।

तुम्हें हर एक के साथ और हर चीज के लिए लड़ना-झगड़ना छोड़ देना चाहिये अन्यथा तुम योग में कुछ भी प्रगति करने की आशा कैसे कर सकते हो?

२३ सितम्बर, १९३२

*

यह वृत्ति अपनाओ—किसी व्यक्तिगत झगड़े में किसी का पक्ष मत लो। केवल 'दिव्य शान्ति', 'सामञ्जस्य', 'प्रकाश' और 'सुख' के बारे में सोचो और उनके अधिकाधिक पवित्र और शान्त यन्त्र बनो।

१८ सितम्बर, १९३४

*

यह कभी न भूलो कि मैं झगड़ों को पसन्द नहीं करती और दोनों ही पक्षों को समान रूप से गलत मानती हूं। यहां अपनी भावनाओं, पसन्दों, नापसन्दों और आवेशों पर विजय पाना एक अनिवार्य अनुशासन है।

१ अक्तूबर, १९४३

*

हां तो "क" ने मुझे यह कहानी बहुत भिन्न तरीके से सुनायी है। और मैं इस बात के लिए अभ्यस्त हो चुकी हूं कि हर एक मुझे अपने ही ढंग से बातें बतलाता है, उस ढंग से जो उसके सबसे ज्यादा अनुकूल हो। और मैं इसे बहुत महत्त्व नहीं देती। केवल एक ही बात है जिसका मुझे हमेशा खेद होता है और वह है व्यर्थ के लड़ाई-झगड़े जो जीवन को इतना कठिन बना देते हैं जब कि थोड़ी-सी पारस्परिक सद्भावना से सब कुछ सामञ्जस्य के साथ सुलझ सकता था।

२१ जुलाई, १९४७

*

आपने मुझसे झगड़ा न करने के लिए कहा है और कहा है कि हम एक-दूसरे के साथ मिलकर रहें। मैं स्पष्ट कहता हूं कि मैं वह प्रकाश नहीं देखता जिसमें मैं "क" के साथ सहमत हो सकूं। मैं उस प्रकाश के लिए प्रार्थना करता हूं। मैं आपके आदेश का उल्लंघन करने के लिए क्षमा चाहता हूं। क्या आप मुझे क्षमा न करेंगी? मां, आपको क्षमा करना पड़ेगा।

क्षमा और आशीर्वाद तो हैं ही पर इन झगड़ों को रोकने के लिए कुछ-न-कुछ दूसरी व्यवस्था तो करनी ही होगी।

प्रेम और आशीर्वाद।

२६ अक्तूबर, १९४८

*

सम्बन्ध के महत्त्व को समझने के लिए यह बड़ा अच्छा अवसर है।

तुम्हें सब झगड़े एकदम बन्द कर देने चाहियें। वे तुम दोनों की साधना के लिए हानिकर हैं।

अपना भरसक प्रयास करो और अगर तुम सफल न हो सको तो तुम्हें यह सम्बन्ध छोड़ देना पड़ेगा।

२३ सितम्बर, १९५१

*

मैं कभी झगड़ों के बीच में नहीं पड़ती क्योंकि निश्चय ही गलती दोनों की होती है।

१० मई, १९५३

*

जब दो आदमी झगड़ते हैं तो हमेशा दोनों की गलती होती है।

भले ही तुम झगड़े की पहल करने वाले न होओ फिर भी झगड़ा करना हमेशा गलत है।

*

जब तुम झगड़ा शुरू करते हो तो यह मानों भगवान् के कार्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना होता है।

*

हां, ये सब झगड़े बड़ी दुःखद बातें हैं—ये कार्य में भयंकर रूप से बाधा देते हैं और हर चीज को अधिक कठिन बना देते हैं।

*

दूसरों की भूलों पर क्रुद्ध होने से पहले तुम्हें अपनी भूलों को याद कर लेना चाहिये।

२२ जुलाई, १९५४

*

तुम्हें सभी तरह की बाहरी और भीतरी क्रोध, अधीरता और नापसन्दगी की गतिविधियों से पिंड छुड़ा लेना चाहिये। अगर चीजें गलत हो जायें या गलत तरीके से की जायें तो तुम बस इतना ही कहो "माताजी जानती हैं" और चुपचाप यथासम्भव अच्छे-से-अच्छी तरह बिना रगड़-झगड़ के काम करते या कराते चले जाओ।†

*

यह बात कि कोई अपने दोषों के लिए दुःखी है,—उन्हें ठीक करने के निश्चय को मजबूत बनाने में सहायक हो सकती है, यदि वह चाहे तो।

लेकिन किसी के दुर्व्यवहार से नाराज होने या रूठने का सचमुच आध्यात्मिक जीवन और भगवान् की सेवा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

*

तिरस्कार और अपमान से ऊपर रहना तुम्हें सचमुच महान् बनाता है।

*

अगर कोई हमारे साथ झगड़ा करने आये क्योंकि एक स्थिति में हमने किसी बात को स्वीकार कर लिया है और दूसरी में अस्वीकार तो क्या किया जाये? बार-बार की अस्वीकृति से पैदा हुई चारों ओर की कटुता से बचने के लिए क्या किया जाये?

रही बात समस्त दुर्भावना, ईर्ष्या, लड़ाई-झगड़े और भर्त्सना की, तो इस स्थिति में भी तुम्हें *सचाई के साथ* इन सबसे ऊपर उठना चाहिये और कड़वे-से-कड़वे शब्दों के उत्तर में सद्भावनापूर्ण मुस्कान ही देनी चाहिये और जब तक तुम अपने और अपनी प्रतिक्रियाओं के बारे में पूरी तरह निश्चित न होओ, एक सामान्य नियम के रूप में यही ज्यादा अच्छा होगा कि तुम चुप ही रहो।

६ अक्तूबर, १९६०

*

जैसा हमेशा होता है, यह केवल गलतफहमी है और फिर हमेशा की तरह ही हर एक का अहंकार अपनी प्रतिक्रिया द्वारा चीज को बढ़ा-चढ़ाकर गम्भीर बना देता है। लेकिन इसकी व्यवस्था करना आसान है और मुझे विश्वास है कि सबकी सद्भावना के साथ सब ठीक हो जायेगा।

मेरा मानना है कि हमारी व्यक्तिगत और सम्मिलित साधना के लिए उत्तम अवसर हमारे सामने है और इसीलिए मैं अपने-आपको इसमें लगाती हूं और इसमें विशेष रस लेती हूं।

हम "क" के नाटक की या "ख" के नाच या "ग" के दृश्यलेख की सफलता के लिए काम नहीं करते।

हम धरती पर अपने काम की सम्पन्नता के लिए भेजी गयी प्रभु की प्रेरणा को भरसक पूर्णता के साथ भौतिक रूप में चरितार्थ करना चाहते हैं।

और इसके लिए हर एक अन्तरात्मा सहायक और सहयोगी है पर हर एक अहंकार सीमांकन और बाधा है।

१९६०

*

स्पष्ट ही अपने-आपको ऐसी छोटी-मोटी चीजों के कारण विचलित होने देना बहुत खेदजनक है। अगर हर एक अपने काम को वास्तविक महत्त्वपूर्ण काम मानकर उस पर ज्यादा ध्यान दे तो ये सब झगड़े अपने असली रूप में यानी अत्यन्त उपहासास्पद रूप में दिखायी देंगे।

मैं आशा करती हूं कि जल्दी ही सब कुछ निपट जायेगा और बेकरी के कार्यकर्ताओं में फिर से सामञ्जस्य का राज होगा।

आशीर्वाद सहित।

*

मेरे आशीर्वाद और मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे और बेकरी में काम करने वालों के साथ है ताकि तुम्हारे अन्दर सामञ्जस्य का अधिकाधिक राज हो।

*

यह जगत् दयनीय दुःख-दैन्य से भरा है लेकिन सभी प्राणियों में सबसे अधिक दयनीय वे हैं जो इतने नीच और दुर्बल हैं कि अपनी दुष्ट प्रकृति दिखाये बिना रह नहीं सकते।

१८ सितम्बर, १९६३

*

मुझे शत्रुता, जुगुप्सा और अविश्वास बिलकुल व्यर्थ लगते हैं। हम सब कितनी आसानी से मित्र बन सकते हैं।

'परम प्रभु' जब धरती पर मनुष्यों के जीवन को देखते हैं तो 'अपने-आप' से यही तो कहते हैं।

प्रेम और आशीर्वाद।

१४ सितम्बर, १९६९

*

हम एकता की बातें करते हैं और कहते हैं कि हम उसके लिए कार्य कर रहे हैं। लेकिन झगड़े की भावना हमारे अन्दर बनी रहती है। क्या हम इस कपट पर विजय न पायेंगे?

मैं यहां तुमसे यही कहने के लिए आयी हूं। और सबसे अच्छा तरीका है भगवान् की सेवा में लग जाना।

आशीर्वाद।

१२ मार्च, १९७२

*

कोई विवाद नहीं, कोई झगड़े नहीं—टकराहटरहित जीवन की मधुरता।

*

हृदय में से विभाजन को निकाल बाहर करो और फिर विभाजन न होने की बात करो।

*

संकीर्णता और पक्षपात

सारी मुश्किल इस बात से आती है कि तुम किसी के साथ तब तक सामञ्जस्य नहीं कर सकते जब तक कि वह तुम्हारे अपने विचारों के साथ सहमत न हो और उसकी राय और उसके काम करने का तरीका तुम्हारे तरीके से मेल न खाता हो।

तुम्हें अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि हर एक का अपना ही सिद्धान्त होता है। व्यक्तिगत इच्छाओं के सुखद संयोजन में समझ और सामञ्जस्य की भूमि खोजना जरूरी है न कि यह कोशिश करना कि सभी की इच्छाएं और कर्म एक जैसे हों।

*

उत्तरोत्तर सामञ्जस्य की स्थापना में जो मुख्य बाधाएं हैं उनमें से एक है अपने विरोधी के आगे यह सिद्ध करने की आतुरता कि वह गलत है और हम ठीक हैं।

*

मैं आपकी नयी व्यवस्था से प्रसन्न हूं, आशा करता हूं कि वह चलेगी।

यह इस पर निर्भर है कि हर एक अपनी इच्छा की विजय की अपेक्षा सामञ्जस्य की कितनी परवाह करता है!

*

तुम दूसरों से व्यवस्था बनाये रखने की आशा कैसे करते हो जब तुम स्वयं ऐसा नहीं करते?

अगर तुम वस्तुओं को समझने में हमेशा *एकतरफा* बने रहो तो अपने छिछलेपन में से बाहर निकलने की आशा कैसे कर सकते हो?

जून १९३१

*

"क" जैसा सोचता और अनुभव करता है उसमें वह बिलकुल न्यायसंगत है लेकिन उसे समझना चाहिये कि दूसरे लोग भी जैसा वे सोचते और अनुभव करते हैं उसमें न्यायसंगत हैं, भले ही वे उसके साथ सहमत न हों। उसे उनसे घृणा न करनी चाहिये और न भला-बुरा कहना चाहिये।

मनुष्यों में सबसे अधिक फैली हुई बीमारी है मानसिक संकीर्णता। लोग केवल वही समझते हैं जो उनकी अपनी चेतना में हो, वे किसी और चीज को नहीं सह सकते।

२४ सितम्बर, १९५३

*

जो व्यक्ति केवल अपनी ही राय को मानता है, अधिकाधिक संकीर्ण होता जाता है।

*

हर समस्या के लिए एक ऐसा समाधान है जो हर एक को सन्तुष्ट कर सकता है लेकिन इस आदर्श समाधान को पाने के लिए हर एक को औरों के साथ मिलकर उन पर अपनी पसन्द लादने की इच्छा की बजाय उस समाधान को चाहना चाहिये।

अपनी चेतना का विस्तार करो और सबकी सन्तुष्टि के लिए अभीप्सा करो।

२८ अगस्त, १९७१

*

तुम केवल प्रश्न के *अपने पक्ष* को देखते हो। अगर तुम अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहो तो ज्यादा अच्छा होगा कि निष्पक्ष होकर सभी पहलुओं से देखो। बाद में तुम्हें पता चलेगा कि इस वृत्ति के बहुत लाभ हैं।

१७ सितम्बर, १९७१

*

जब तक कि तुम किसी के *पक्ष* में हो और किसी के *विपक्ष* में, तो निश्चित रूप से 'सत्य' तुम्हारी पहुंच से परे है।

भाग ५

मानव सम्बन्ध

औरों का मूल्यांकन करना

मन जितना अज्ञानी होता है उतनी ही ज्यादा आसानी से हर उस चीज का मूल्यांकन करता है जिसे वह नहीं जानता या जिसे समझने में वह अक्षम है।

*

मैं चाहती हूं कि तुम्हारे मन में शान्ति आये और साथ ही वह अचंचल, धैर्यशील बुद्धिमत्ता जो तुम्हें जल्दबाजी में निष्कर्ष निकालने या मूल्यांकन करने से रोकती है।

*

आवश्यक जानकारी प्राप्त होने से पहले मन को अचंचल रखना और जल्दबाजी में निष्कर्ष निकालने से बचना हमेशा अच्छा है।

१२ अप्रैल, १९३२

*

अपने प्राण से कहो कि बाहरी रूप-रंग के आधार पर मूल्यांकन न करे और सहयोग दे। आगे चलकर सब कुछ अच्छा होगा।

*

तुम्हारा व्याकुल होना गलत था। वह दिखाता है कि तुम्हारे मन और हृदय में सन्देह था। और अगर तुम अपने-आपमें पूरी तरह पवित्र हो तो तुम्हें सन्देह नहीं हो सकता। मन जानने में अक्षम है। वह बाहरी रूप-रंग के आधार पर मूल्यांकन करता है और वह भी समग्रता से नहीं बल्कि उस अंश के आधार पर जिसे वह देख सकता है और उसका मूल्यांकन निश्चय ही मिथ्या होता है। केवल सत्य-चेतना ही सत्य को जान सकती है और वह कभी न तो सन्देह करती है, न मूल्यांकन।

१४ नवम्बर, १९५२

*

यह निर्णय करने से पहले कि औरों में या परिस्थितियों में कुछ भूल है, तुम्हें अपने मूल्यांकन के ठीक होने का पूरा विश्वास होना चाहिये। और कौन-सा मूल्यांकन ठीक हो सकता है जब तक कि तुम सामान्य चेतना में निवास करते हो जो अज्ञान पर आधारित और मिथ्यात्व से भरी है?

केवल 'सत्य-चेतना' ही मूल्यांकन कर सकती है इसलिए ज्यादा अच्छा यह है कि सभी परिस्थितियों में निर्णय भगवान् पर छोड़ दो।

*

जब कभी कोई प्रचलित लीक के अनुसार नहीं चलता, अगर उसके सभी अंगों और क्रियाओं में सामान्य सन्तुलन नहीं है, अगर कुछ क्षमताएं थोड़ी-बहुत कम हैं और कुछ अन्य बढ़ी-चढ़ी हुई हैं तो सामान्यतया सीधे-सीधे उसे "अपसामान्य" घोषित कर दिया जाता है और जल्दबाजी के साथ की गयी इस दण्डाज्ञा के बाद मामला खतम। और अगर यह संक्षिप्त-सा निर्णय किसी उच्च पदाधिकारी ने दिया हो तो इसके नतीजे अनर्थकारी हो सकते हैं। ऐसे लोगों को जानना चाहिये कि सच्ची अनुकम्पा क्या है, तब वे दूसरी तरह से व्यवहार करेंगे।

पहली आवश्यकता यह है कि किसी के बारे में निन्दात्मक ढंग से सोचने से परहेज करो। जब हम किसी आदमी से मिलते हैं तो हमारे आलोचनात्मक विचार मानों उसकी नाक पर घूंसा जमाते हैं जो स्वभावतः उसके अन्दर विद्रोह पैदा करता है। हमारी यह मानसिक रचना ही उस व्यक्ति के लिए विकृत छवि दिखाने वाले दर्पण का काम करती है और तब आदमी विचित्र न हो तो भी हो जायेगा। लोग अपने मन से यह विचार क्यों नहीं निकाल सकते कि यह या वह व्यक्ति अस्वाभाविक है? वे किस कसौटी से परखते हैं? वास्तव में स्वभाविक है कौन? मैं तुमसे कह सकती हूं कि एक भी व्यक्ति सामान्य या स्वाभाविक नहीं है क्योंकि स्वाभाविक होने का अर्थ है भगवान् होना।

मनुष्य का एक पैर पाशविकता में है और दूसरा मानवता में और साथ-ही-साथ वह देवत्व का प्रत्याशी है। उसकी अवस्था सुखद नहीं है। सच्चे पशु ज्यादा अच्छी हालत में हैं। वे आपस में ज्यादा सामञ्जस्यपूर्ण हैं। वे मनुष्यों की तरह लड़ते-झगड़ते नहीं। वे अकड़फूं नहीं करते, वे

लोगों को नीचा समझकर उन्हें दूर नहीं रखते।

तुम्हारे अन्दर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिये और तुम्हें अपने साथियों के साथ सहयोग करना सीखना चाहिये। उनके अन्दर जो कुछ घटिया दीखता हो उसका मजाक उड़ाने की जगह उनकी सहायता करना और उन्हें ऊंचा उठाना चाहिये।

अगर किसी के अन्दर कुछ त्रुटि है और वह अति संवेदनशील और हठी है तो तुम उसे बाधित करके या फटाफट बाहर निकाल कर सुधारने की आशा नहीं कर सकते। उसी के जैसा बर्ताव करके उसके अहंकार को अपने अहंकार द्वारा मजबूर मत करो। उसके स्वभाव के अनुसार उसका पथ-प्रदर्शन नरमी और समझदारी के साथ करो। यह देखो कि क्या तुम उसे ऐसी जगह रख सकते हो जहां वह औरों के साथ बिना टकराहट के काम कर सके।

अगर, जिन लोगों के हाथ में सत्ता हो और वे अपनी महत्ता से फूले रहें तो वे सच्चे कार्य में बाधा देते हैं। उनके अन्दर जो भी क्षमताएं हों उनकी उपलब्धि ही वास्तविक चीज नहीं है।

लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उनमें हमेशा सद्‌भावना की कमी होती है। क्या उचित है इसके बारे में उनके अन्दर गलत विचार होते हैं। अगर वे भागवत लक्ष्य के बारे में ज्यादा सचेतन हो जायें तो वे निश्चय ही उसे पूरा करने में सफल हो सकते हैं।

*

जैसे-जैसे हमारी अपनी पूर्णता बढ़ती है वैसे-वैसे दूसरों को उदारता के साथ समझने की क्षमता भी बढ़ती है।

१८ जुलाई, १९५४

*

और लोग क्या करते हैं, इससे अपने-आपको व्यथित न करो, यह बात मैं तुम्हें बार-बार नहीं कह सकती। मूल्यांकन न करो, आलोचना न करो, तुलना न करो, यह तुम्हारा काम नहीं है।

१९५७

*

तुम्हें किसी आदमी का मूल्य आंकने का कोई अधिकार नहीं है जब तक कि वह जो काम करता है उसे तुम उससे ज्यादा अच्छी तरह न कर सको।

२७ जून, १९६४

*

और "क" के निर्णय करने की कसौटी क्या है? क्या वह भगवान् बन गया है? केवल भगवान् ही हर एक का सच्चा मूल्य जानते हैं।

२५ जुलाई, १९७१

*

वह सद्यःप्राप्त पवित्रता की ऊंचाइयों पर चढ़कर ऐसे बड़े भाई का मूल्यांकन और उसकी अनुचित तीव्र आलोचना करती है जो हमेशा उसके प्रति बहुत दयालु रहा है।

*

औरों के साथ सख्ती बरतने से पहले अपने साथ कठोर बनो।

*

औरों की मूर्खताओं की परवाह न करो, अपनी मूर्खताओं को देखो।

*

ज्यादा अच्छा होगा कि मन भी औरों के मामले में टांग न अड़ाये। और भी ज्यादा अच्छा होगा कि प्राण भी उनमें कोई रस न ले।

*

मैं तुम्हारे भविष्य के मार्गदर्शन के लिए यह सुझाव दूंगी कि उन मामलों में हस्तक्षेप न करो जिनका तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं है। अगर "क" अब भी यहां है तो इसका कारण यह है कि मैं उसे अपने साथ रखना पसन्द करती हूं।

*

उच्चतम गुणों में से एक है औरों के मामलों में टांग न अड़ाना।†

औरों की तथा संसार की सहायता

औरों को पीड़ा पहुंचाना आध्यात्मिक सिद्धि को साधित करने के लिए अच्छा आधार नहीं है।

मार्ग पर अकेले बढ़ना अहंकार का एक रूप हो सकता है। अगर और लोग अनुसरण करने से इन्कार करें तो तुम केवल अपने-आपको मुक्त कर सकते हो। इसलिए पहले तुम्हें उन्हें अपने साथ ले चलने का प्रस्ताव रखना चाहिये, अगर इससे प्रगति बोझिल हो उठे और कठिनाइयां बढ़ जायें तो तुम्हें यह मानना चाहिये कि यह विशेष भागवत कृपा का प्रभाव है जो इस तरह से समर्पण की सच्चाई को परख रही है। भागवत सहायता ग्रहण करने की क्षमता इस सचाई के अनुपात में होती है।

७ जून, १९५८

*

औरों की सहायता करना अपनी सहायता करने का सबसे अच्छा तरीका है। क्योंकि अगर तुम सच्चे और निष्कपट हो तो तुम्हें शीघ्र ही पता लग जायेगा कि उनकी सभी कठिनाइयां और उनकी सभी असफलताएं तुम्हारे अपने अन्दर तदनुरूप त्रुटियां होने का निश्चित चिह्न हैं। वस्तुतः वे प्रमाणित करती हैं कि तुम्हारे अन्दर कोई चीज इतनी पूर्ण नहीं है कि सर्वशक्तिमान हो सके।

*

हम दूसरों में वही पाते हैं जो हमारे अन्दर है। अगर हम सदा अपने चारों ओर कीचड़ ही पायें तो यह प्रमाणित करता है कि हमारे अन्दर कहीं पर कीचड़ है।

*

केवल अहंकार ही दूसरों में अहंकार देखकर आघात पाता है।

*

अगर हम ध्यान दें तो हमारे चारों ओर जो लोग हैं उनमें से हर एक हमारे लिए दर्पण हो सकता है जिसमें हमारे एक या अनेक पहलू प्रतिबिम्बित होते हैं। अगर हम उससे लाभ उठाना जानें तो यह हमारी प्रगति के लिए प्रबल सहायक हो सकता है। और जब दर्पण सच्चा, निष्कपट और सद्भावनापूर्ण हो तो सहायता का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

*

अगर तुम्हारे अन्दर उनके लिए सहानुभूति और उनकी कठिनाई की सच्ची समझ है तो तुम हमेशा उनकी सहायता कर सकते हो।

*

तुम उसकी सहायता करो जो उसका उपयोग करना जाने।

*
* *

मानवजाति एक बीमार बच्चे की तरह है जो हमेशा ऐसी चीज मांगता है जो उसके लिए अच्छी नहीं है। परोपकारिता ऐसी मां की तरह है जो बच्चे की मांग पूरी करने के लिए उसे वही चीज देगी जो उसकी तबीयत को और खराब कर दे।

*

मानवजाति की सेवा को भगवान् की सेवा की सबसे ऊंची अभिव्यक्ति मानना भूल है। ऐसा करना ऐकान्तिक मानव चेतना की सीमाओं के अन्दर बहुत अधिक बन्द रहना है।

*

औरों की सहायता करने का सबसे अच्छा तरीका है अपने-आपको रूपान्तरित करना। तुम पूर्ण बनो तो तुम संसार में पूर्णता लाने की स्थिति में होओगे।

*

दुनिया को बचाने के लिए उच्चतर चेतना में ऊपर उठो।

*

दुनिया को बचाने के लिए अपनी चेतना को बदलो।

*

अगर तुम दुनिया को बदलना चाहते हो तो अपने-आपको बदलो। अपने आन्तरिक रूपान्तर द्वारा यह प्रमाणित करो कि सत्य-चेतना जड़-भौतिक जगत् पर अधिकार कर सकती है और धरती पर 'भागवत एकता' अभिव्यक्त की जा सकती है।

संस्थाएं चाहे जितनी विशाल और पूर्ण क्यों न हों, कोई स्थायी चीज नहीं प्राप्त कर सकतीं जब तक कि एक नयी शक्ति, जो अधिक दिव्य और सर्वशक्तिमान हो, अपने-आपको पूर्ण बने हुए मानव यन्त्र के द्वारा प्रकट नहीं करती।

२३ अगस्त, १९५२

*

कोई भी भौतिक संगठन, उसकी तैयारी चाहे जितनी भी हो, मनुष्यों के दुःख-दैन्य का समाधान लाने में समर्थ नहीं है।

कष्टों से छुटकारा पाने के लिए भी मनुष्य को चेतना के उच्चतर स्तर तक उठना होगा और अपने अज्ञान, अपनी सीमाओं और स्वार्थपरता से अपना पिंड छुड़ाना होगा।

२१ फरवरी, १९५५

*

संसार की सहायता करने का सबसे अच्छा उपाय है अपने-आपको *सर्वांगीण* और *गहन* योग साधना द्वारा रूपान्तरित करना।

जुलाई, १९६५

*

हम अपने-आपको जितना अच्छा बनायेंगे, संसार उसी अनुपात में ज्यादा अच्छा बनेगा। यह वैदान्तिक सत्य कि संसार हमारी चेतना का एक प्रक्षेपण मात्र, केवल उसकी एक क्रिया है, व्यावहारिक रूप से भी उतना ही सच है जितना आध्यात्मिक रूप से। मानवजाति व्यष्टिगत और समष्टिगत रूप से जिन रोगों का शिकार है, वे उन भूल-भ्रान्तियों से उठते हैं जो हमारी अज्ञानमयी प्रकृति की जड़ों में हैं। अगर हम कभी बाहर शुद्ध जगत् देखना चाहें तो हमें सबसे पहले व्यक्तिगत रूप में इन बुराइयों को निकाल अपनी शुद्धि करनी चाहिये। आत्मशुद्धिकरण का योग आत्म-परिपूर्णता के योग से पहले की आवश्यक शर्त है।

लेकिन, अन्त में, धरती के बालकों को एक 'उच्चतर नियति' सहारा दिये हुए है और उसके तौर-तरीकों का अन्दाजा नहीं लग सकता।

१६ अगस्त, १९६७

*

जब तक तुम्हारे अन्दर दुनिया को बदलने की शक्ति नहीं है तब तक यह कहना बेकार है कि दुनिया गलत है और अगर तुम अपने अन्दर से उन चीजों को निकाल दो जो दुनिया में गलत हैं तो तुम देखोगे कि फिर दुनिया गलत न रहेगी।

*

जब तुम सचमुच बदल जाओगे तो तुम्हारे चारों ओर की सब चीजें भी बदल जायेंगी।

औरों की राय

औरों की मनोदशाओं और सनकों को अपने ऊपर प्रभाव न डालने देने में तुम बिलकुल ठीक हो। तुम्हें हमेशा इन सब चीजों से ऊपर भगवान् की 'उपस्थिति', 'प्रेम' और उनके 'रक्षण' की अनुभूति में उड़ान भरनी चाहिये।

*

बाहर की किसी चीज को अपने तक आने और अपने-आपको परेशान न करने दो। लोग जो सोचते, करते या कहते हैं उसका बहुत कम महत्त्व है। एकमात्र चीज जिसकी गिनती है वह है भगवान् के साथ तुम्हारा सम्बन्ध।

३० अप्रैल, १९३३

*

जब कोई किसी और व्यक्ति के प्रभाव की ओर खुला रहता है तो यह हमेशा खेदजनक होता है। तुम्हें भगवान् के सिवाय और किसी के प्रभाव को न आने देना चाहिये।

२२ मार्च, १९३४

*

और लोग क्या कहते, सोचते या करते हैं उससे दुःखी होना हमेशा दुर्बलता का चिह्न और इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारी सारी सत्ता ऐकान्तिक रूप से भगवान् की ओर मुड़ी हुई नहीं है, केवल भगवान् के प्रभाव में नहीं है। और तब प्रेम, सहिष्णुता, समझ, धैर्य से बना हुआ भागवत वातावरण लाने की जगह किसी और के अहंकार के उत्तर में तुम्हारा अहंकार अकड़ और आहत भावनाओं के साथ जोर से उभर कर आता है और असामञ्जस्य बढ़ जाता है। अहंकार यह बात कभी नहीं समझ पाता कि भिन्न-भिन्न लोगों में भगवान् के काम करने के तरीके भिन्न-भिन्न होते हैं। और अपने अहंकार के दृष्टिकोण से औरों का मूल्यांकन करना बहुत बड़ी भूल है जो अस्तव्यस्तता को बढ़ाती ही बढ़ाती है। हम आवेग और असहिष्णुता के साथ जो कुछ करते हैं वह दिव्य नहीं हो सकता क्योंकि भगवान् केवल शान्ति और सामञ्जस्य में काम करते हैं।

तुम इसलिए परेशान हो क्योंकि अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनने की जगह तुमने गंवारू मनों और अंधेरी चेतनाओं के सुझाव को स्वीकार कर लिया है जो हर जगह कुरूपता और अपवित्रता ही देखती हैं क्योंकि वे चैत्य पवित्रता के सम्पर्क में नहीं होतीं।

इन गलत सुझावों को सुनने से इन्कार करो, समझदारी के साथ भगवान् की ओर मुड़ो और 'परम मार्गदर्शन' पर अपनी श्रद्धा को फिर से प्रज्ज्वलित करो।

*

कुछ लोगों का प्राण हमेशा अस्तव्यस्तता, असामञ्जस्य, तुच्छ झगड़े और गड़बड़ों को बुलाता रहता है। उनमें साधारणतः पूर्णता को लेकर एक सनक-सी होती है और वे यह मानते हैं कि हर एक उनके विरुद्ध है। इसे ठीक करना बहुत अधिक कठिन है और इसमें प्रकृति के आमूल रूपान्तर की जरूरत होती है।

ऐसों के साथ व्यवहार करते हुए सबसे अच्छी चीज है उनकी प्रतिक्रियाओं की *परवाह न करना* और तुम्हें जो करना है उसे सरलता और सचाई के साथ करते जाना।

*

लोगों की प्रतिक्रियाओं के बारे में चिन्ता न करो, वे चाहे जितनी अप्रिय क्यों न हों—प्राण सबमें है और हर एक में वह अशुद्धियों से भरा है और भौतिक अचेतना से भरा है। चाहे जितना समय क्यों न लगे इन दो अपूर्णताओं को दूर करना चाहिये और हमें इस पर धीरज और साहस के साथ लगे रहना चाहिये।

*

तुमसे किसने कहा कि तुम्हारा स्वभाव "क" से घटिया है? हर एक का अपना स्वभाव होता है और वह अपने ही पथ का अनुसरण करता है। औरों के साथ तुलनाएं हमेशा बेकार और अधिकतर खतरनाक होती हैं।

४ अप्रैल, १९३४

*

कातरता एक प्रकार का दर्प है। जब तुम कातर होते हो तो इसका अर्थ होता है कि तुम अपने कार्य की सचाई की अपेक्षा अपने बारे में औरों की राय को बहुत अधिक महत्त्व देते हो।

*

औरों की रायों को कोई महत्त्व देने की जरूरत नहीं है क्योंकि वे सरसरी तौर से बनायी धारणाओं के क्षणिक परिणाम होती हैं। समयानुसार दूसरी धारणाएं उन्हें आसानी से बदल देंगी।

*

निर्दोषी औरों की राय की परवाह नहीं करता।

वह औरों की धमकियों पर क्यों कान देता है, उसे अपने *आन्तरिक* आदेश के अनुसार करना चाहिये, जनमत के अनुसार नहीं।

जब तुम अपने-आपको किसी निःस्वार्थ लक्ष्य को चरितार्थ करने के लिए अर्पित करते हो तो यह आशा कभी न करो कि सामान्य लोग तुम्हारी प्रशंसा या तुम्हारा समर्थन करेंगे। इसके विपरीत, वे हमेशा तुम्हारे विरुद्ध लड़ेंगे, तुमसे घृणा करेंगे और तुम्हें बुरा-भला कहेंगे।

लेकिन भगवान् तुम्हारे साथ होंगे।

१७ सितम्बर, १९५३

*

भगवान् के प्रति नमनीय होने का अर्थ है अपने पहले से सोचे हुए विचारों और बंधे हुए सिद्धान्तों की कट्टरता के साथ 'उनका' विरोध न करना। और इसके लिए बहुत बल की जरूरत होती है क्योंकि तुम भागवत इच्छा के प्रति जितने अधिक नमनीय होओगे उतना ही ज्यादा उन मानव इच्छाओं के साथ संघर्ष बढ़ेगा जो भागवत इच्छा के सम्पर्क में नहीं हैं।

अपनी इच्छा-शक्ति पूरी तरह भगवान् को दे दो और वह किसी भी मानव इच्छा के दबाव से मुक्त अनुभव करेगी।

१९ सितम्बर, १९५३

*

चाहे सारे संसार में तुम ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति होते जो अपने-आपको पूरी तरह और पूर्ण शुद्ध रूप में भगवान् को देता और अकेले होने के कारण, स्वभावतः धरती का हर एक आदमी तुम्हें गलत समझता, फिर भी, यह अपने-आपको अर्पित न करने का कोई कारण न होता।

*

मुझे यह सुनकर धक्का लगा कि "क" ने आपसे मेरी शिकायत की है। मैं उसके साथ विशेष रूप से सदय रहा हूं।

भगवान् को संसार से ठीक ऐसा ही व्यवहार मिलता है। श्रीअरविन्द को भी नहीं छोड़ा गया। तो देखो, तुम अच्छी संगत में हो और निराश होने का कोई कारण नहीं।

*

अपनी इच्छा पूरी न करो। भगवान् की इच्छा पूरी करो।
औरों की इच्छा भी पूरी न करो नहीं तो तुम घिर जाओगे।

१९७२

औरों से आसक्ति

वह सब जो मानव सम्बन्धों पर आधारित है अस्थिर, क्षणभंगुर, मिश्रित और असन्तोषजनक है। केवल वही जो भगवान् पर आधारित और भगवान् के द्वारा है वही स्थायी हो सकता और सन्तोष दे सकता है।

२१ जुलाई, १९३५

*

मुझे विश्वास है कि तुम्हारी सत्ता के सचेतन भाग में "क" के साथ तुम्हारा सम्बन्ध वैसा ही है जैसा तुम कहते हो लेकिन आदमी को हमेशा अवचेतना के बारे में बहुत सतर्क रहना चाहिये इसीलिए हमेशा यह वांछनीय है कि [...] दोस्ती या सम्बन्ध न रखे जायें क्योंकि अवचेतन प्राण में ऐसे गठबन्धन हो जाते हैं जो साधना में बाधा बनते हैं।

मेरे प्रिय बालक, मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

*

ऐसी मित्रता जो कामना और आसक्ति से मुक्त हो, आदर्श समाधान हो सकती है लेकिन इसे निभाने के लिए अपने ऊपर पूर्ण संयम और प्राण और शरीर पर अटल अनुशासन की जरूरत है। और चूंकि अभी ऐसी अवस्था नहीं है इसलिए ज्यादा अच्छा यही है कि शैतान को प्रलोभन न दो और सम्बन्ध बिलकुल काट दो।

*

ऐसा समय था जब तुम बहुत संवेगाकुल थे और तुम्हारा स्नेह तुरन्त संवेगों और उनसे सम्बद्ध असन्तुलन में जा गिरता था।

लेकिन अब तुम अधिक संयत हो और निःसन्देह अधिक स्थिर और अचंचल हो। वह दिन आयेगा जब कोई आसक्ति न रहेगी। बनी रहेगी ज्योतिर्मयी मधुर सहानुभूति जिसमें न कोई मांग होगी न अहंकार।

*

सब कुछ आकर्षण के प्रकार पर निर्भर है।

अगर यह भौतिक आकर्षण है, पाशविक वृत्ति की आवश्यकता है जो प्रजनन की ओर धकेलती है तो सबसे अच्छी बात यह है कि तुम इस जगह को छोड़ दो और "क" को फिर कभी न मिलो। इसका मतलब होगा कि इस व्यक्ति का प्रभाव तुम्हारे अन्दर निम्नतर वृत्तियों को जगाता और प्रोत्साहित करता है।

अगर यह प्राणिक आकर्षण है तो घनिष्ठ सम्बन्ध से बचते हुए एक मकान में रहते हुए जितना सम्बन्ध अनिवार्य है उससे अधिक को काटकर सम्बन्ध को पवित्र करने और वश में रखने का प्रयत्न कर सकते हो।

अगर यह भावुकतापूर्ण और संवेदनशील आकर्षण है तो अपने सम्बन्ध को भगवान् की और आध्यात्मिक जीवन की सम्मिलित खोज तक सीमित रखते हुए उसे उनकी ओर मोड़ना ज्यादा आसान है।

तब सब कुछ तुम्हारी सचाई और पारस्परिक सद्‌भावना पर निर्भर होगा।

*

मैं तुम्हारी स्पष्टवादिता और सचाई की बहुत सराहना करती हूं। यह सच है कि किसी घनिष्ठ मानव-सम्बन्ध को प्राणिक मिश्रण से मुक्त रखना बहुत अधिक कठिन है। लेकिन ऐसे सम्बन्धों को काटना उपाय नहीं है बल्कि सदैव जाग्रत् रहना (चौकन्ना रहना) और प्राणिक आकर्षण को अपनी क्रियाओं पर शासन नहीं करने देना है।

२९ अगस्त, १९५०

*

अपने-आपको समस्त मानव आसक्तियों से मुक्त रखो और तुम सुखी रहोगे।

६ जून, १९५४

*

याद करते रहना आसक्ति का खतरनाक साथी है।

*

अभी के लिए ज्यादा अच्छा है कि चुपचाप रहो और अपने आन्तरिक विकास पर ही ध्यान दो। बाद में, जब तुम अनुभव करो कि आसक्ति का लवलेश भी नहीं रहा तो तुम सहज रूप से, बिना किसी कठिनाई के पत्र-व्यवहार शुरू कर सकते हो। वह उपयोगी और लाभदायक होगा। लेकिन नियम यह है कि जो तुम औरों को देना चाहते हो उसे पहले अपने अन्दर चरितार्थ करो।

१७ अप्रैल, १९५६

*

अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ आसक्ति से छुटकारा पाने के लिए परिस्थितियों का लाभ उठाओ।

तुम्हें यह सीखना चाहिये कि श्रीअरविन्द को और मुझे छोड़कर अब तुम्हारे कोई भाई, बहन, मां, बाप नहीं हैं, और उन्हें चाहे जो कुछ होता रहे उसका तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध न होना चाहिये, तुम्हें मुक्त अनुभव करना चाहिये। हम ही तुम्हारा समस्त परिवार, तुम्हारा संरक्षण और तुम्हारे सर्वेसर्वा हैं।

भगवान् के प्रति तथा औरों के प्रति कर्तव्य

भगवान् के प्रति कर्तव्य किसी सामाजिक या पारिवारिक कर्तव्य की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र है; अधिक पवित्र इसलिए क्योंकि मानव समुदाय में लगभग पूरी तरह इसकी अवहेलना होती है या इसे गलत समझा जाता है।

*

जिसने एक बार अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर दिया उसके लिए इसके सिवा कोई और कर्तव्य नहीं रहता कि वह अपने समर्पण को अधिकाधिक पूर्ण बनाये। संसार और उसमें रहने वाले मनुष्यों ने हमेशा मानव अर्थात् सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों को भगवान् के प्रति कर्तव्य के पहले रखना चाहा है। उन्होंने भगवान् के प्रति कर्तव्य को अहंकार कहकर कलंकित किया है। वे दूसरी तरह से मूल्यांकन कर ही कैसे सकते थे जिन्हें भगवान् की वास्तविकता का कोई अनुभव नहीं है? लेकिन भगवान् की दृष्टि में उनकी राय का कोई मूल्य नहीं है, उनकी इच्छा में कोई शक्ति नहीं है। वे अज्ञान की गतिविधियां हैं, उससे बढ़कर कुछ नहीं। तुम्हें उन्हें विश्वास दिलाने की कोशिश न करनी चाहिये और सबसे बढ़कर यह कि तुम्हें अपने-आपको प्रभावित होने या डिगने न देना चाहिये। तुम्हें अपने-आपको सावधानी के साथ समर्पण के एकान्त में बन्द कर लेना चाहिये और केवल भगवान् से ही सहायता, संरक्षण, पथ-प्रदर्शन और *समर्थन* की अपेक्षा रखनी चाहिये। जिसे मालूम हो कि उसे भगवान् की स्वीकृति और उनका समर्थन प्राप्त है उसे सारे संसार द्वारा निन्दित होने की परवाह नहीं होती।

इसके अतिरिक्त, क्या मानवजाति ने अपने अस्तित्व की व्यवस्था में अपनी पूर्ण अक्षमता प्रमाणित नहीं कर दी है? सरकारों के बाद सरकारें आती हैं, राज्यों के बाद राज्य बदलते हैं, सदियों पर सदियां बीतती जाती हैं परन्तु मानव दुर्दशा शोचनीय रूप में वह-की-वही बनी रहती है। जब तक मनुष्य जो है वह-का-वही बना रहेगा यानी अंधा और अज्ञानी तथा समस्त आध्यात्मिक वास्तविकता के प्रति बन्द, तब तक यह दुर्दशा भी

वैसी ही बनी रहेगी। रूपान्तर करके और मानव चेतना को आलोकित करके ही मानव जाति की अवस्था में सच्चा सुधार लाया जा सकता है। अतः मानव जीवन के दृष्टिकोण से भी यही तर्क-संगत ठहरता है कि मनुष्य का पहला कर्तव्य यह है कि वह दिव्य चेतना को खोजे और प्राप्त कर ले।

१३ जून, १९३७

*

हम अन्य सभी प्रभावों से अलग, केवल 'तेरे' ही प्रभाव में रहें।[१]

हर शक्ति या सामर्थ्य का अन्य शक्तियों और सामर्थ्यों पर प्रभाव होता है और यह प्रभाव पारस्परिक होता है। इस निरन्तर और व्यापक अस्तव्यस्तता या प्रभाव से बचने के लिए केवल एक ही रास्ता है : ऐकान्तिक रूप से इस 'दिव्य चेतना' पर एकाग्र होना और अपने-आपको इस 'दिव्य चेतना' की ओर खोलना।

*

अगर मानव सम्बन्ध और उनकी आदतें तथा आसक्तियां बनायी रखी जायें तो भगवान् के प्रति सच्चा सम्पूर्ण समर्पण नहीं हो सकता। सभी सम्बन्धों को ऊपर केवल भगवान् की ओर मोड़ना चाहिये और ऐक्य तथा समर्पण के साधनों में रूपान्तरित करना चाहिये।

*

प्राणिक सम्बन्ध हमेशा खतरनाक होते हैं।

भगवान् के प्रति प्राण का सम्पूर्ण, निरपेक्ष निवेदन ही एकमात्र समाधान है।

*

[१] 'प्रार्थना और ध्यान', २३ अक्तूबर १९३७।

तुमने भागवत मैत्री की अपेक्षा मानव मैत्री को पसन्द किया। लेकिन मानव मैत्री अस्थिर होती है और अब तुम्हें लगता है कि तुम दोनों से कट गये हो। यह नहीं कि भगवान् ने अपनी मैत्री तुमसे खींच ली है—वे उसे कभी नहीं हटाते—लेकिन तुम प्राणिक असमर्थता की स्थिति में जा गिरने के कारण उसका आनन्द नहीं उठा पा रहे हो।

*

भगवान् के साथ हमेशा ऐसे सम्पर्क में रहने के लिए हमें क्या करना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति या घटना हमें इस सम्पर्क से अलग न कर सके?

अभीप्सा, सचाई।

१९७२

सामान्य

उनका संग कभी न करो जो पंकिल रास्तों पर चलते हैं क्योंकि तुम्हारे अपने साथी ही तुम्हें धब्बे लगायेंगे।

*

मुझे एक बहुत ही उग्र व्यक्ति का सामना करना पड़ा। मेरे ऊपर उसकी प्रतिक्रिया हुई।

सम्बन्ध काट दो, हो सके तो सहसा, जिससे स्पन्दन झड़ जायें।

*

अपने सोचने, अनुभव करने और क्रिया करने के ढंग से हर एक ऐसे संवेदन उत्पन्न करता है जो उसके अपने वातावरण का निर्माण करते हैं और बिलकुल स्वाभाविक रूप में उसी प्रकृति के समानधर्मा स्पन्दनों को आकर्षित करते हैं।

*

मित्र बनाने के लिए मिलकर हंसने से अच्छा और कोई तरीका नहीं है।

*

हमारा सबसे अच्छा मित्र वह है जो हमारे अन्दर जो सबसे अच्छा है उसके साथ प्रेम करता है और फिर भी हम जो हैं उससे भिन्न बनें ऐसी अपेक्षा नहीं रखता।

नर और नारी

दासता

जब तक नारियां अपने-आपको मुक्त न करें तब तक कोई कानून उन्हें मुक्त नहीं कर सकता।

उन्हें जो चीजें दास बनाती हैं वे हैं :

१. नर और उसके बल के प्रति आकर्षण,

२. गृहस्थ-जीवन और उससे मिलने वाली निश्चिन्तता की कामना,

३. मातृत्व के लिए आसक्ति।

अगर वे इन तीन दासताओं से मुक्त हो जायें तो वे सचमुच पुरुषों के बराबर होंगी।

पुरुषों में भी तीन दासताएं होती हैं :

१. आधिपत्य की भावना, शक्ति और अपनी प्रधानता के लिए आसक्ति,

२. स्त्रियों के साथ लैंगिक सम्बन्ध की कामना,

३. विवाहित जीवन की छोटी-मोटी सुख-सुविधाओं के लिए आसक्ति।

अगर वे इन तीन दासताओं से छुटकारा पा लें तो वे सचमुच स्त्रियों के बराबर हो सकते हैं।

१ अगस्त, १९५१

*

स्त्रियां प्राणिक और भौतिक चेतना के साथ पुरुषों की अपेक्षा अधिक बंधी हुई नहीं होतीं। इसके विपरीत, चूंकि उनमें पुरुषों का अक्खड़ मानसिक मिथ्याभिमान अक्सर नहीं होता अतः उनके लिए अपने चैत्य पुरुष को खोजना और उसे अपना पथ-प्रदर्शन करने देना ज्यादा आसान होता है।

सामान्यतः वे ऐसे मानसिक रूप में सचेतन नहीं होतीं जिसे शब्दों में व्यक्त किया जा सके, लेकिन वे अपनी अनुभूतियों में सचेतन होती हैं और उनमें जो सर्वोत्तम होती हैं वे अपने कर्मों में भी सचेतन होती हैं।

*

आध्यात्मिक जीवन में बहुत-सी विलक्षण नारियां हो चुकी हैं। लेकिन नारियों का एक पक्ष यह है कि उनका मानसिक रूप देने या बौद्धिक रूप से अभिव्यक्त करने की अपेक्षा कर्म की ओर ज्यादा रुझान होता है। इसीलिए बहुत ही कम स्त्रियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियां लिपिबद्ध की हैं और फलतः वे अज्ञात रही हैं।

*

सचमुच अच्छी पत्नी होना लगभग उतना ही कठिन है जितना सच्चा शिष्य होना।

*

यह विचार कि स्त्रियों को पुरुषों के लिए पकाना चाहिये, मेरे सिद्धान्तों के विपरीत है। क्या वे गुलाम हैं?

विवाह और बच्चे

अपने शारीरिक जीवनों और अपनी भौतिक रुचियों को एक करना, कठिनाइयों और सफलताओं का, जीवन की हार और जीत का एक साथ मिलकर सामना कर सकने के लिए एक हो जाना—यही विवाह का आधार है—लेकिन तुम जानते ही हो कि यह पर्याप्त नहीं है।

संवेदनों में एक होना, समान सुरुचियों और रंगरेलियों में रस लेना, एक ही चीज को एक-दूसरे के द्वारा और एक-दूसरे के लिए एक साथ अनुभव कर सकना, यह अच्छा है, जरूरी है—लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

गहरी भावनाओं में, जीवन के सभी प्रहारों के बावजूद, एक-दूसरे के लिए पारस्परिक प्रेम और कोमल भावनाओं को बनाये रखना जो थकान, विक्षोभों और निराशाओं को सह सकते हैं, हमेशा और हर हालत में सुखी रहना, अत्यधिक सुखी रहना, हर परिस्थिति में, एक-दूसरे के सहवास में आराम, शान्ति और आनन्द पाना—यह सब अच्छा है, बहुत अच्छा है, अनिवार्य है—लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

अपने मनों को एक करना, अपने विचारों को सामञ्जस्यपूर्ण और एक-दूसरे का पूरक बनाना, अपने बौद्धिक क्रिया-कलापों और खोजों को आपस में बांटना; संक्षेप में कहें तो दोनों के सम्मिलित विशाल और समृद्ध चिन्तन द्वारा मानसिक क्रिया-कलापों के क्षेत्रों को एक जैसा बनाना —यह अच्छा है, यह बिलकुल जरूरी है—लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

इस सबके परे, तली में, केन्द्र में, सत्ता के शिखर पर, सत्ता का एक 'परम सत्य' है, 'शाश्वत प्रकाश' है जो जन्म, देश, वातावरण और शिक्षा की सभी परिस्थितियों से स्वतन्त्र है; जो हमारे आध्यात्मिक विकास का स्रोत, कारण और प्रभु है—'वही' हमारे जीवन का सनातन दिग्दर्शक है। 'वही' हमारी नियति का निश्चय करता है; तुम्हें 'इसी की' चेतना में एक होना चाहिये। अभीप्सा और आरोहण में एक होना चाहिये, एक ही आध्यात्मिक पथ पर कदम मिलाकर आगे बढ़ना चाहिये—चिरस्थायी ऐक्य का यही रहस्य है।

मार्च, १९३३

*

यह चुनाव बिलकुल न था। मैंने केवल यह कहा था कि यह लड़की तीनों में सबसे अच्छी मालूम होती है, बस इतना ही। बहरहाल, विवाह अपने-आपको साधना के लिए तैयार करने का सीधा रास्ता नहीं है। यह परोक्ष मार्ग हो सकता है, अगर तुम्हारी बाह्य प्रकृति को सांसारिक आसक्तियों से छूटने के लिए कष्टों और निराशाओं की जरूरत है। लेकिन इस हालत में साधारणतः परीक्षण का अन्त दोनों में विच्छेद से होता है, कम-से-कम एक के लिए तो अक्सर कष्टकर विच्छेद है। इस विषय में मैं तुमसे इतना ही कह सकती हूं।

१३ अक्तूबर, १९४०

*

"कुछ आधुनिक सामाजिक विचारकों के इस विचार के बारे में कि परिवार-प्रथा के टूटने और गायब हो जाने की आशंका और सम्भावना है, आपने टिप्पणी की है कि यह टूटना मानवजाति में उच्चतर और विशालतर उपलब्धि लाने के लिए एक अनिवार्य गति थी और है।" इससे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। स्पष्टीकरण के लिए उन्हें 'आपके' आगे रख रहा हूं।

१–क्या आपका ख्याल है कि परिवार-प्रथा का टूटना केवल उन थोड़े-से अपवादिक लोगों के लिए अनिवार्य है जो किसी उच्चतर मानसिक या आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण कर रहे हैं या सारी मानवजाति के लिए भी अनिवार्य है?

हां, केवल उन कुछ अपवादिक लोगों के लिए जो उच्चतर मानसिक या आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करते हैं।

२–अगर आप समस्त मानवजाति के लिए परिवार-प्रथा के पूर्ण विलय के पक्ष में हैं तो क्या आपका ख्याल है कि यह सीधे भौतिकीकरण द्वारा धरती पर जन्म की नयी प्रक्रिया के सामान्य बन जाने से पहले ही हो जाना चाहिये?

परिवार-प्रथा में अधिक स्वाधीनता और नमनीयता की जरूरत है। बंधे-बंधाये अटल नियम विकास के लिए हानिकर हैं।

> *३–क्या आप मानवजाति के उच्चतर विकास के लिए परिवार-प्रथा की तरह विवाह-पद्धति का विलयन भी अनिवार्य समझती हैं? जब तक जन्म लेने की नयी क्रिया सामान्य न बन जाये तब तक क्या वर्तमान लैंगिक प्रजनन जारी न रहेगा? ऐसी अवस्था में क्या किसी-न-किसी प्रकार का वैवाहिक सम्बन्ध जरूरी न रहेगा?*

विवाह तो हमेशा होते रहेंगे लेकिन *अवैधता* से बचने के लिए कानूनी समारोह करने पर जोर न देना चाहिये।

> *४–जब तक जन्म लेने का नया तरीका व्यापक न बन जाये और बच्चे वर्तमान लैंगिक पद्धति से पैदा होते रहें तब तक क्या पारिवारिक जीवन और वातावरण उनके पालन-पोषण के लिए, विशेषकर, गठन के आरम्भिक वर्षों में, सबसे अधिक उपयोगी नहीं है? दूसरा विकल्प है कि उनकी देख-रेख और पालन-पोषण के लिए कोई और व्यवस्था की जाये जैसे सरकारी शिशुशालाएं जिनकी कुछ कम्यूनिस्ट विचारकों ने वकालत की थी। लेकिन इस मत को बहुत समर्थक नहीं मिले, क्योंकि यह देखा गया है कि बच्चों को जिस प्रेमपूर्ण सुकोमल व्यवहार की जरूरत है वह केवल पारिवारिक, घर-द्वार के मैत्रीपूर्ण वातावरण में मां-बाप से ही मिल सकता है। अगर यह सच है तो क्या कम-से-कम छोटे बच्चों की दृष्टि से परिवार जरूरी न होंगे जब तक कि भावी नवीन प्रजनन-पद्धति सम्भव और सामान्य न हो जाये?*

यहां भी दोनों बातों को समान रूप से स्वीकार करना और व्यवहार में लाना होगा। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जहां बच्चे को परिवार से अलग करना उसके लिए आशीर्वाद होगा।

कम-से-कम *नियम*।

अधिक-से-अधिक *स्वाधीनता*।

सभी सम्भावनाओं को अभिव्यक्त होने के लिए पूरा अवसर मिलना चाहिये, तब मानवजाति तेजी से प्रगति करेगी।

२१ जुलाई, १९६०

*

तुम कहते हो कि तुम अपने बच्चों का ठीक तरह से पालन-पोषण न कर सके, हालांकि तुम अच्छे पढ़े-लिखे सुसंस्कृत आदमी हो लेकिन उनके लिए तुम्हारे पास अतिरिक्त समय नहीं है, और तुम यह भी कहते हो कि तुम्हारी पत्नी के पास समय है लेकिन वह अनपढ़, असंस्कृत, और बेकार है। क्या तुम मुझे बताओगे कि उसकी अवस्था का जिम्मेदार कौन है? पच्चीस वर्षों से अधिक वह तुम्हारे साथ रही है। इन पच्चीस वर्षों में तुमने उसे पढ़ाने या उसे अपनी "सभ्यता" देने के लिए क्या किया—बिलकुल कुछ नहीं। यहां तक कि यह विचार भी तुम्हारे अन्दर नहीं उठा। तुमने यह कभी नहीं सोचा कि अगर उसकी पढ़ाई के लिए तुम रोज एक घण्टा भी देते तो पच्चीस वर्षों में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता। तुम्हारे लिए उसका अस्तित्व बस एक मशीन की तरह था जो तुम्हारी सुख-सुविधाओं का ख्याल रखे और तुम्हारे बच्चे पैदा करे। तुम उसे विश्वासपात्र न बना सके, उसकी प्रगति के लिए तुम कुछ न कर सके, लेकिन यहां तुम अपने सारे दम्भ के साथ खड़े उस पर अपढ़ और असंस्कृत होने का सारा दोष मढ़ रहे हो।

मैं उसकी सभी त्रुटियों का जिम्मेदार तुम्हें मानती हूं।†

*

तुम चाहते हो कि तुम्हारे बच्चे तुम्हारे हुकुम के अनुसार चलें। तुम 'सत्य' के बारे में जानते ही क्या हो? तुम अपनी इच्छा लादना चाहते हो क्योंकि तुम ज्यादा समर्थ हो। इसी तरह कोई अधिक समर्थ व्यक्ति तुम्हें पकड़ सकता है और तुम्हें उसके कहे अनुसार करना पड़ेगा।

बच्चों को बड़ा करना बहुत कठिन काम है। मैंने ऐसे माता-पिता अधिक नहीं देखे जो उचित चीज कर सकें।

तुम्हें बच्चों पर अपनी इच्छा लादने का अधिकार ही क्या है? तुम ही

उनकी समस्या पर गम्भीरता से विचार किये बिना या आवश्यक तैयारी के बिना ही उन्हें दुनिया में ले आये हो।†

*

अपने बच्चों को मत मारो।

इससे *तुम्हारी* चेतना धुंधली हो जाती है और *उनका* चरित्र बिगड़ता है।

१६ नवम्बर, १९६८

भाग ६

कर्म

कर्म—भगवान् के प्रति अर्घ्य

आओ, हम अपना कर्म भगवान् को अर्घ्य रूप में दें। यह प्रगति करने का निश्चित साधन है।

*

भगवान् के प्रति निवेदित किये गये कार्य के द्वारा ही चेतना सबसे अच्छी तरह विकसित होती है।

आलस्य और अकर्मण्यता का अन्त *तमस्* में होता है। वह निश्चेतना में पतन है। वह समस्त प्रगति और प्रकाश के विपरीत है।

अपने अहंकार को जीतना, केवल भगवान् की सेवा में लगे रहना—यही सच्ची चेतना को प्राप्त करने का आदर्श और सबसे छोटा मार्ग है।

*

तुम्हें काम भगवान् के प्रति अर्घ्य के रूप में करना चाहिये और उसे अपनी 'साधना' का अंग मानना चाहिये। उस भाव के साथ काम के स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं और तुम आन्तरिक उपस्थिति से सम्पर्क खोये बिना कोई भी काम कर सकते हो।

*

जब मेरे विभाग में पर्याप्त काम नहीं होता तो क्या मैं अपना समय पढ़ने और चित्र आंकने में लगा सकता हूं?

तुम्हारा काम तुम्हारी साधना है। समर्पण भाव से अपना काम करते हुए ही तुम अधिक-से-अधिक प्रगति कर सकते हो।

मेरा ख्याल है कि पढ़ने और चित्र आंकने के द्वारा अपने-आपको बहुत थकाने की जरूरत नहीं है।

१८ फरवरी, १९३३

*

मैं यह जानना चाहूंगा कि क्या पढ़ने और चित्र आंकने में भी वही साधना नहीं है?

हर चीज को भगवान् को पाने का साधन बनाया जा सकता है। जिस चीज का महत्त्व है वह है वह भाव जिससे काम किया जाता है।

२१ फरवरी, १९३३

*

सच्चे भाव से किया गया काम ध्यान है।

१५ सितम्बर, १९३४

*

सब कुछ उस मनोभाव पर निर्भर है जिससे तुम काम करते हो। अगर उसे उचित मनोभाव से किया जाये तो निश्चित ही वह तुम्हें मेरे नजदीक लायेगा।

१७ मई, १९३७

*

मैं तुम्हारे काम करने के तरीके से बिलकुल सन्तुष्ट हूं और वह निश्चय ही तुम्हें मेरे ज्यादा समीप आने में सहायता देगा।

*

मैं कर्म और योग में फर्क नहीं करती। निष्ठा और समर्पण-भाव से किया गया कर्म अपने-आपमें योग है।

२५ जनवरी, १९३८

*

कभी-कभी जब मैं ध्यान में डूबा होता हूं तो मैं देखता और अनुभव करता हूं कि मेरी भौतिक सत्ता काम के द्वारा अभीप्सा करती है। तब मैं अपने भौतिक में सूर्य को अपनी प्रखर ज्योति के साथ अभिव्यक्त

होते हुए देखता हूं। 'आप' में से निःसृत हो रहे सभी देवता और शक्तियां इस सूर्य में मौजूद हैं।

हां, यह सच है कि काम में और काम-द्वारा आदमी दिव्य ज्योति और शक्ति के सूर्य से सम्पर्क साध सकता है।

*

काम के बारे में तुम्हारा मनोभाव ठीक है, और इसमें सुझाने लायक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं लगती। प्रेम द्वारा और प्रेम के लिए किया गया काम निश्चय ही सबसे ज्यादा सशक्त होता है।

८ जून, १९४२

*

प्रेमपूर्वक कर्म करना : कर्म करने की सर्वश्रेष्ठ स्थिति।

*

Let us work as we pray,
for indeed work is the body's
best prayer to the Divine.

आओ, हम जैसे प्रार्थना करते हैं उसी तरह काम करें क्योंकि वस्तुतः काम भगवान् के प्रति शरीर की सर्वोत्तम प्रार्थना है।

११ दिसम्बर, १९४५

*

भगवान् के लिए काम करना, शरीर द्वारा प्रार्थना करना है।

*

तुम ध्यान द्वारा प्रगति कर सकते हो लेकिन अगर काम उचित भाव से किया जाये तो उसके द्वारा दसगुनी प्रगति कर सकते हो।

६ *अप्रैल*, १९५४

*

आन्तरिक और बाह्य मनोवृत्ति के संशोधन से साधना में प्रगति होती है। तुम किस तरह का काम करते हो इससे नहीं—कोई भी काम, चाहे कितना भी घटिया क्यों न हो, यदि सम्यक् मनोवृत्ति के साथ किया जाये तो भगवान् तक ले जाता है।

१६ *जुलाई*, १९५५

*

काम करना इतना आसान नहीं है। सच्चे काम में तुम्हें वह सब तो करना ही पड़ता है जो 'साधना' के लिए किया जाता है, उसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ।

२१ *अगस्त*, १९५५

*

तुम्हें वह सब करना है जो योगी करता है, तुम्हें उच्चतम शिखरों तक पहुंचना और चेतना, प्रकाश और शान्ति की अवस्थाओं को नीचे उतार कर अपने रोज के काम में अभिव्यक्त करना है। तुम्हारे लिए कोई भी काम नगण्य या तुच्छ नहीं है।

२२ *अगस्त*, १९५५

*

जाओ और अपने-आपको तैयार करो, और सबसे अच्छी तैयारी है भगवान् के काम में उपयोगी होना।

मई, १९६३

*

क्या मैं ध्यान के लिए कोशिश करूं?

अगर तुम्हारा काम भगवान् के प्रति निरन्तर अर्घ्य है तो यह जरूरी नहीं।

१३ अप्रैल, १९६५

*

मैं अपने काम का अर्घ्य किस प्रकार दे सकता हूं?

सामान्यतः आदमी अपने निजी लाभ और सन्तोष के लिए काम करता है; इसके बदले तुम्हें भगवान् की सेवा के लिए, 'उनकी' इच्छा को अभिव्यक्त करने के लिए काम करना चाहिये।

२३ जून, १९६५

*

हमारा काम चाहे जो हो, हम चाहे जो करते हों, हमें उसे सचाई, ईमानदारी और अति सावधानी के साथ करना चाहिये, किसी निजी लाभ के लिए नहीं बल्कि भगवान् के प्रति अर्घ्य के रूप में जिसमें हमारी पूरी सत्ता का समर्पण हो। अगर सभी परिस्थितियों में सचाई के साथ यह मनोभाव रखा जाये तो जब कभी हमें काम को भलीभांति करने के लिए कुछ सीखने की जरूरत हो तो उस जानकारी को पाने का अवसर हमें मिल जाता है और हमें बस, उस अवसर का लाभ उठाना होता है।

अब जब कि तुम कार्य-पथ पर अपने आरम्भिक कदम उठाने वाले हो तो यह समय है कि तुम्हें यह फैसला करना होगा कि तुम अपना जीवन अपने निजी हितों को अर्पण करोगे या कर्म को चरितार्थ करने के लिए उसका अर्घ्य दोगे।

दोनों अवस्थाओं में कार्यक्षेत्र वही रहता है, जिस भाव से काम किया जाता है वह पूर्णतया भिन्न होता है।

*

इस बात को न भूलना चाहिये कि अर्घ्य भागवत कार्य को दिया जाता

है किसी मानव उपक्रम को नहीं। अतः एकमात्र चीज जो की जा सकती है वह है कुछ गिने-चुने शब्दों में थोड़ी-सी सराहना।

*

१. साधना और २. मन की नीरवता के लिए कौन-से कदम उठाने चाहियें?

(१) काम को साधना समझो। अपनी श्रेष्ठतम क्षमता के अनुसार काम करो और उसे भगवान् को अर्पित कर दो, परिणाम भगवान् पर छोड़ दो।

(२) मस्तिष्क को यथासम्भव नीरव रखते हुए पहले अपने सिर के ऊपर सचेतन होने की कोशिश करो।

अगर तुम सफल हो जाओ और उस स्थिति में काम करो तो वह काम पूर्ण बनेगा।

२ *अप्रैल,* १९७०

*

अपने आदर्श के प्रति निष्ठावान् रहो और अपना काम भगवान् को अर्पण करो।

*

भगवान् के लिए काम करो तो तुम अनुभव करोगे उस अवाच्य आनन्द को जो तुम्हारी सत्ता को भरे दे रहा है।

*

भगवान् के लिए किया गया निस्स्वार्थ काम : प्रगति करने का निश्चिततम उपाय।

*

निःस्वार्थ कर्म : ऐसा काम जिसमें भगवान् के काम को भरसक अच्छे-से-अच्छा करने के सिवा कोई और हेतु न हो।

*

यह हम कैसे जानें कि भगवान् का काम क्या है और हम भगवान् के साथ कैसे काम करें?

तुम्हें बस, भगवान् के साथ एक और तदात्म होना चाहिये।

कर्म में प्रगति और पूर्णता

तुम अपने काम में अधिकाधिक पूर्ण होते जाओगे, जैसे-जैसे तुम्हारी चेतना बढ़ती, विशाल और विस्तृत होती तथा प्रबुद्ध होती जायेगी।

७ अक्तूबर, १९३४

*

सभी कर्मों और क्रियाओं में पूर्णता की मात्रा चेतना की अवस्था पर निर्भर होती है।

*

भगवान् के लिए काम करना मेरे जैसे अंधे और अहंकार-भरे आदमी के लिए आसान नहीं है। इससे मेरा मतलब है: अहंकार के बिना काम करना और अपने-आपको आपकी शक्ति की ओर खुला रखना ताकि वह मेरे अन्दर अबाध रूप से क्रिया कर सके। क्या यह ठीक है?

हां, यह ठीक है।

इस मानदण्ड से देखा जाये तो मुझे आपके लिए काम करने का कोई अधिकार नहीं है लेकिन शायद आपका काम बन्द कर देना भी वांछनीय नहीं है।

निश्चय ही, तुम्हें मेरे लिए काम करना बन्द न करना चाहिये। काम करते-करते काम में पूर्णता आती है।

१२ अप्रैल, १९४७

*

तुम जो कुछ करो उसमें रस लेने की कोशिश करो।
तुम जो कर रहे हो, उसमें तुम्हें रस हो तो आनन्द भी आयेगा।

तुम जो कर रहे हो उसमें रस लेने के लिए तुम्हें उसे अधिकाधिक अच्छी तरह करने की कोशिश करनी चाहिये।

*

प्रगति में ही सच्चा आनन्द है।

६ जनवरी, १९५२

*

जब काम आकर्षक बन जाये और आनन्द के साथ किया जाये तो यह कितना अधिक अच्छा होगा।

*

यह सच है कि मेरी शक्ति हमेशा उसके साथ रहती है ताकि उसे उसका काम करने में सहायता दे। लेकिन मेरी शक्ति तत्त्वतः पूर्णता के लिए है और उसे पूरी तरह काम करने देने के लिए आदमी के अन्दर काम में प्रगति करने के लिए सतत इच्छा होनी चाहिये।

१२ मई, १९५२

*

सारे अच्छे काम मिलजुल कर धीरज के साथ किये गये प्रयास से होते हैं।

८ अप्रैल, १९५४

*

काम में पूर्णता ही लक्ष्य होना चाहिये, लेकिन यह बड़े धीरज के साथ प्रयास करने से ही प्राप्त हो सकती है।

१२ अप्रैल, १९५४

*

अपने-आपको भगवान् की शक्ति के प्रति अधिकाधिक खोलो, तुम्हारा

काम पूर्णता की ओर निरन्तर प्रगति करता रहेगा।

११ जून, १९५४

*

हम भगवान् के काम के पूर्ण यन्त्र बनने के लिए सतत अभीप्सा करें।

२७ अगस्त, १९५४

*

काम में तुम्हारा आदर्श पूर्णता होना चाहिये, इससे जरा भी कम नहीं। तब तुम निश्चय ही भगवान् के सच्चे यन्त्र बन जाओगे।

*

काम में सिलसिला और सामञ्जस्य होने चाहियें। जो काम यूं देखने में बिलकुल नगण्य है उसे भी पूर्ण पूर्णता के साथ, सफाई, सुन्दरता और सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से तथा सिलसिलेवार करना चाहिये।

२३ अगस्त, १९५५

*

कोई भी कठिनाई ऐसी नहीं जो ढंग, क्रम और सावधानी से हल न की जा सके।

*

व्यवस्था : सभी अच्छे कामों के लिए अनिवार्य।

*

नियमितता : सभी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के लिए अनिवार्य।

*

काम के लिए स्थिरता और नियमितता उतनी ही आवश्यक है जितना कौशल। तुम जो कुछ करो हमेशा सावधानीपूर्वक करो।

*

तुम जो कुछ करो, हमेशा सावधानी से करो।

*

जो भी काम सावधानी से किया जाये वह मजेदार बन जाता है।

*

कोई भी चीज इतनी छोटी नहीं है कि उसकी अवहेलना की जाये, यही सावधानी सभी परिस्थितियों में उपयोगी होती है।

*

एक चीज बनाने के लिए दूसरी को बिगाड़ना अच्छी नीति नहीं है। जो लोग समर्पित हैं और भगवान् के लिए काम करना चाहते हैं उनमें धीरज होना चाहिये और उन्हें ठीक समय पर ठीक तरह से चीजों के किये जाने की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

१४ फरवरी, १९५९

*

ज्यादा अच्छा यह है कि भगवान् से प्राप्त शक्तियों का उपयोग काम का विस्तार करने की अपेक्षा उसकी पूर्णता के लिए किया जाये।

जो काम किया जाये उसके आकार या उसके क्षेत्र के बड़ा होने की अपेक्षा उसकी पूर्णता का कहीं अधिक महत्त्व है।

मई, १९५९

*

जब तुम भगवान् के लिए कार्य करो, तो बहुत बड़े कार्य को लक्ष्य बनाने की अपेक्षा जो करो उसे पूर्णता से करना कहीं अधिक अच्छा है।

१३ मई, १९५९

*

जल्दी-जल्दी करने की अपेक्षा सम्यक् रूप से करना ज्यादा अच्छा है।

*

एक काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़कर कहीं और कुछ काम शुरू कर देना बहुत अच्छी आदत नहीं है।

५ जुलाई, १९५९

*

कामों में, 'पूर्णता' के लिए अभीप्सा सच्ची आध्यात्मिकता है।

अक्तूबर, १९६१

*

तुम जो कुछ करो, भरसक पूर्णता के साथ करो। मनुष्य के अन्दर बसने वाले भगवान् की यह सबसे अच्छी सेवा है।

१ नवम्बर, १९६१

*

मैं तुम्हें लिखना चाहती थी कि यह उपेक्षित काम तुरन्त किया जाना चाहिये।

मैं तुम्हारी सफाई को मान लेती हूं कि इसमें दुर्भावना नहीं, लापरवाही है। लेकिन मुझे कहना चाहिये कि मेरे लिए लापरवाही दुर्भावना का सबसे बुरा रूप है क्योंकि यह भागवत प्रेरणा और चेतना के आगे समर्पण करने से इन्कार है। इनके बारे में सतत जागरूक रहना चाहिये।

मैं आशा करती हूं कि यह नया वर्ष तुम्हारे लिए मन की विशालता और हृदय की उदारता लायेगा जो इस प्रकार की दुःखद घटनाओं को असम्भव बना देगा।

आशीर्वाद।

४ जनवरी, १९६६

*

काम की निर्दोष योजना भगवान् की चेतना के बिना नहीं बन सकती।

*

अगर पूर्ण न होने के कारण मनुष्य काम बन्द कर दें तो हर कोई

काम करना बन्द कर देगा। हमें काम में ही प्रगति करनी और अपने-आपको शुद्ध बनाना चाहिये।

तुम जो काम कर रहे हो उसे जारी रखो लेकिन यह कभी न भूलो कि वह ज्यादा अच्छा हो सकता है और उसे होना चाहिये।

२३ दिसम्बर, १९७१

*

तुम जो काम करते हो उसे पूरी सचाई के साथ भरसक पूर्णता से करना निश्चय ही भगवान् की सेवा के सबसे अच्छे तरीकों में से एक है।

१८ मई, १९७२

*

जब काम के यन्त्र—हाथ, आंखें आदि,—सचेतन हो जायें और मनोयोग संयत हो तो काम की क्षमता की कोई हद नहीं रहती।

*

कुशल हाथ, स्पष्ट दृष्टि, एकाग्र मनोयोग, अथक धैर्य—ये सब हों तो तुम जो भी करोगे अच्छा ही करोगे।

*

कुशल हाथ, यथार्थ सावधानी, अविच्छिन्न मनोयोग हो तो तुम 'जड़-पदार्थ' को 'आत्मा' की आज्ञा मानने के लिए बाधित करोगे।

*

नीरवता में निरीक्षण कैसे करें यह जानना कौशल का मूल स्रोत है।

*

कार्य-कौशल का उपयोग समझदारी से करना चाहिये।

कर्म में सहयोग और सामञ्जस्य

कार्यक्षेत्र नहीं बदलता। तुम अभी जो कर रहे हो इसी को करते रहोगे। परिवर्तन होना चाहिये कार्य के प्रति तुम्हारी मनोवृत्ति में, *विशेषकर अन्य कार्यकर्ताओं के साथ सम्बन्ध में*। हर एक काम को अपनी ही दृष्टि से देखता है और यह मानता है कि यही सच्चा तरीका, एकमात्र तरीका है जो भगवान् की इच्छा को प्रकट करता है। लेकिन इनमें से कोई भी तरीका पूरी तरह सच्चा नहीं है। इन विभक्त धारणाओं से ऊपर उठकर ही तुम भागवत इच्छा को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हो। इसका अर्थ है इच्छाओं और भावों की टकराहट और विरोध की जगह आपसी समझ और सहानुभूति तथा सहयोग।

२३ मई, १९३४

*

सामञ्जस्य और ज्यादा अच्छे काम के लिए, आदमियों को बदलने से चीजें बेहतर नहीं हो सकतीं, वे होंगी अपनी चेतना और चरित्र को बदलने से।

२५ जनवरी, १९३७

*

एक सामान्य नियम के रूप में, ज्यादा अच्छा यह है कि जो चीजें तुम्हारे काम से सम्बन्धित नहीं हैं उनमें हस्तक्षेप न करो।

७ अक्तूबर, १९३७

*

अगर काम में कुछ कठिनाइयों से सामना होता है तो सचाई से अपने अन्दर देखो और वहां तुम्हें उनका मूल कारण मिल जायेगा।

*

काम में जो कठिनाइयां आती हैं वे परिस्थितियों या बाहर की छोटी-मोटी घटनाओं के कारण नहीं आतीं। वे आती हैं आन्तरिक वृत्ति की

किसी गलती से, विशेषकर प्राणिक वृत्ति की : अहंकार, महत्त्वाकांक्षा, कार्य-सम्बन्धी मानसिक धारणा की कट्टरता, दर्प आदि। और असामञ्जस्य को ठीक करने के लिए हमेशा अच्छा यही है कि कारण को औरों के अन्दर खोजने की जगह अपने अन्दर खोजो।

१९ अप्रैल, १९३८

*

"असामञ्जस्यभरे वातावरण" को पहचानना केवल उसी हद तक उपयोगी हो सकता है जिस हद तक वह हर एक के अन्दर उसे सामञ्जस्यभरे वातावरण में बदलने की इच्छा जगाये। और यह करने के लिए पहला जरूरी कदम यह है कि हर एक अपने सीमित दृष्टिकोण से बाहर निकले ताकि दूसरों के दृष्टिकोण को *समझ* सके। हर एक के लिए यह ज्यादा जरूरी है कि औरों की भूल पर अड़े रहने की जगह *स्वयं अपने अन्दर* भूल को खोजे।

इतना और कह दूं कि मैंने जिन लोगों को काम में जिम्मेदारी सौंपी है उन सबसे आशा की जाती है कि वे अपनी जिम्मेदारी के प्रति निष्ठावान् रहेंगे और "चोट लगने की भावना" को न घुसने देंगे व अपने कर्तव्य को सफलता के साथ पूरा करने के लिए भरसक प्रयास करेंगे।

मेरे आशीर्वाद उन सबके साथ हैं जो सच्चे और सद्भावनावाले हैं।

*

वस्तुतः मैंने "क" को उसके अपने गुलाब के पौधे वहां ले जाने की स्वीकृति दी है लेकिन मुझे नहीं लगता कि उसे उनके लिए सारी जगह की जरूरत है। और फिर, इस वर्तमान खाद्य-संकट के समय यह बुद्धिमत्ता नहीं है कि जहां हमेशा तरकारियां अच्छी तरह उगा करती थीं उस जगह का उपयोग फूलों के लिए किया जाये। ऐसा लगता है कि जिस जगह टमाटर लगाये गये थे अब वह जगह सेम के लिए तैयार है—ये सेम बोई जानी चाहियें और उनकी अच्छी तरह देख-भाल होनी चाहिये ताकि उनसे अच्छी पैदावार हो सके। पेड़ों और झाड़ियों को उनके स्थान पर रहने दिया जाये और सीताफल (शरीफे) के पेड़ की अच्छी तरह देखभाल की जाये

क्योंकि वह बहुत अच्छे फल देता है। परिणामत: मैं चाहती हूं कि "क" और "ख" दोनों इस बाग की देखभाल करें और हर एक उन चीजों की देखभाल करे जिनका उसके साथ सम्बन्ध है। मैं आशा करती हूं कि वे यह दिखाने के लिए इस अवसर का लाभ उठायेंगे कि काम निस्स्वार्थ भाव से और सामञ्जस्य के साथ किया जा सकता है, जिसमें स्वयं काम की भलाई को पहला स्थान दिया जाये; और अपने अन्दर उन गलत गतिविधियों की रोकथाम की जाये जो इस उपलब्धि के विरुद्ध खड़ी हों।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

*

चैत्य कार्य : ऐसा कार्य जो सामञ्जस्य द्वारा चालित हो।

*

मैं जिल्दसाजी के विभाग में *तुम सबको* यह बताने आयी थी कि तुम्हें क्या करना चाहिये और आशा करती हूं कि तुम उसके अनुसार करोगे। मैं चाहती हूं कि तुम सब सामञ्जस्य के साथ काम करो और एक-दूसरे की भरसक मदद करो।

*

दैनिक कार्यक्रम

शिक्षा-केन्द्र का काम पहले आता है, तब पुस्तकालय का काम और उसके बाद समय हो तो व्यक्तिगत काम।

आशीर्वाद।

*

अनुशासन के बिना कोई अच्छा काम नहीं हो सकता।

हर एक अपने-अपने स्थान पर, ईमानदारी के साथ अपना नियत काम करे तो सब कुछ ठीक होगा।

१७ अगस्त, १९३८

*

आयोजित सम्मिलित कार्य : हर एक अपने स्थान पर और सब एक साथ।

*

किसी काम में परिवर्तन करने से पहले मैं चाहती हूं कि दोनों पक्ष मुझे अपनी बात समझाते हुए प्रस्तावित परिवर्तन के बारे में लिखें। तब मैं निर्णय करूंगी।

अपने प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२५ जुलाई, १९४७

*

मैं नहीं मानती कि काम बदलना तुम्हारे स्वभाव को बदलने में सहायक होगा। यह पहले कभी सफल नहीं हुआ।

*

तुम जिन कारणों से काम बदलने के लिए कह रहे हो वे मनोवैज्ञानिक हैं और स्वयं काम पर निर्भर नहीं हैं। तुम जहां कहीं जाओगे इन्हें अपने साथ लेते जाओगे और जब तक तुम्हारे हृदय में शान्ति नहीं होगी तब तक कहीं भी शान्ति न पा सकोगे।

२२ अगस्त, १९४९

*

जब तुम्हें किसी समुदाय के लिए कार्य करना हो तो व्यक्तिगत हेतुओं के आधार पर निश्चय कर लेना और अपना काम बन्द कर देना एक गम्भीर भूल है।

तुम ऐसी की गयी भूलों की शिकायत करते हो जिन्हें ठीक नहीं किया जा सकता; यह गलत है। अगर तुम *अपने-आपको ठीक करने के लिए* काम करो तो किसी भी भूल को ठीक किया जा सकता है। जो प्रगति करनी है उससे भाग निकलना भीरुता है और मैं उसे स्वीकृति नहीं दे सकती।

सबसे पहले जो भूलें की हैं उन्हें सचाई के साथ पूरी तरह स्वीकार करो। उसके बाद मैं देखूंगी कि क्या किया जाये।

३० मई, १९५३

*

अच्छे काम के लिए सहयोग और परस्पर सद्भावना अनिवार्य हैं।

११ अगस्त, १९५४

*

स्पष्ट है कि काम में घनिष्ठ सहयोग पर एकाग्र होना, परस्पर शिकायतों पर एकाग्र होने की अपेक्षा ज्यादा उपयोगी वृत्ति है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काम तेजी से किया जाये और अच्छी तरह किया जाये।

२१ दिसम्बर, १९५७

*

बंगवाणी कार्यकर्ताओं के नाम

कोई भी महान् कार्य सहयोग और अनुशासन के बिना नहीं हो सकता।

सच्चा और व्यवस्थित सहयोग सफलता की शर्त है।

२० जून, १९५९

*

केवल सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग में ही सार्थक काम किया जा सकता है।

आवश्यक बात है ऐसे बिन्दु का पता लगाना जिस पर तुम सब सहमत हो सको—एक बार यह दृढ़ता से स्थापित हो जाये तो हर एक को सामञ्जस्य के इस बिन्दु को सुरक्षित रखने के लिए अपनी निजी इच्छा को झुका देने के लिए तैयार रहना चाहिये।

२९ मार्च, १९६६

*

जब हमें मिलकर काम करना हो तो हमेशा यह ज्यादा अच्छा है कि हम अपने विचारों, भावों और कर्मों में सहमति की बातों पर जोर दें, असहमति की बातों पर नहीं।

हमें उन चीजों को महत्त्व देना चाहिये जो हमें एक करती हैं और जहां तक हो सके उन चीजों की उपेक्षा करनी चाहिये जो अलग करती हैं।

जहां भौतिक रूप में कार्यप्रणालियों में भेद हो वहां भी ऐक्य अक्षुण्ण और निरन्तर बना रह सकता है बशर्ते कि हम हमेशा मिलाने वाले आवश्यक बिन्दुओं और सिद्धान्तों को और 'भागवत लक्ष्य' को, उस दिव्य उपलब्धि को मन में बनाये रखें जिसे हमारी अभीप्सा और हमारे कर्मों का अपरिवर्तनशील उद्देश्य होना चाहिये।

*

अगर कोई अपनी पसन्दों से अलग रहते हुए, हर चीज को व्यक्तिगत प्रश्न बनाये बिना काम की भलाई को देखने में सक्षम हो तो अधिकतर कठिनाइयां हल हो जायेंगी।

*

अगर लोग काम को *अपना* काम कहना छोड़ सकें तो बहुत-सी कठिनाइयों का अन्त आ जायेगा। यहां सभी काम भगवान् के हैं।

*

महत्त्व काम का है, उस तरीके का नहीं जिससे हमारा छोटा-सा स्व उसे करता है।

*

जब तक तुम निजी विचारों, रायों और पसन्दों से ऊपर नहीं उठ सकते तब तक तुम अच्छे कार्यकर्ता नहीं बन सकते। जब तक तुम्हारे अन्दर निजी पसन्दें हैं तब तक तुम ठीक वह चीज न कर पाओगे जिसकी जरूरत है। †

कर्म में कठिनाइयां

आज सवेरे मैं पांच मिनट काम करके ही थक गया। काम था बस फर्नीचर पर पॉलिश करना!

सभी शारीरिक कामों में कई बार शुरू में थकान आती है। धीरे-धीरे शरीर को उसका अभ्यास हो जाता है और वह मजबूत हो जाता है। फिर भी, यदि तुम सचमुच थकान का अनुभव करते हो तो तुम्हें काम बन्द करके आराम करना चाहिये।

११ फरवरी, १९३३

*

समर्पण के साथ काम कहीं ज्यादा आसानी से और खुशी से किया जा सकता है। लेकिन किसी से वह जितना कर सकता है उससे ज्यादा करने के लिए न कहना चाहिये।

२७ फरवरी, १९३५

*

थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि चाहे जो भी काम हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो और तुम्हें जिस सहारे की जरूरत है उसे भगवान् में ही पाओ क्योंकि भगवान् की शक्ति अपार है और 'उन्हें' जो कुछ भी सचाई के साथ अर्पित किया जाता है 'वे' हमेशा उसका उत्तर देते हैं।

हां, तो जब तुम यह अनुभव करो कि तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की शक्ति ने काम किया है तो अपनी सचाई से तुम जान जाओगे कि श्रेय 'उनको' है तुम्हें नहीं। अतः गर्व करने के लिए कोई कारण नहीं रह जाता।

आशीर्वाद।

*

काम के लिए चिन्ता न करो; जितनी स्थिरता और शान्ति से काम

करोगे वह उतना ही ज्यादा प्रभावकारी होगा।

२९ जुलाई, १९३५

*

कभी-कभी मुझे लगता है कि मेरे स्वभाव की कठोरता आपको मेरे अन्दर भली-भांति काम नहीं करने देती।

लेकिन काम के द्वारा स्वभाव कम कठोर, नमनीय और लोचदार हो जाता है।

*

मुझे तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास है और जानती हूं कि तुम अपनी जिम्मेदारियां अच्छी तरह निभाने योग्य हो। रही बात कठिनाइयों और कमियों की तो ये सभी के लिए हैं और यहां उन्हें विजित करना है। कर्म की साधना का यही अर्थ है। साहस के साथ अपना काम किये जाओ, भगवान् पर पूरी श्रद्धा रखो और केवल 'उन्हीं' की सहायता और कृपा का भरोसा रखो।

६ जनवरी, १९४२

*

मैं तुम्हारे उत्पीड़ित अनुभव करने का कोई कारण नहीं देखती। "क" वाटिका जैसी संस्था को चलाना कोई आसान काम नहीं है और इस काम को सीखने से पहले बहुत-से कटु अनुभवों की जरूरत हो सकती है। मैं केवल यही चाहती हूं कि तुम *सीखने के लिए सद्भावना बनाये रखो और अपनी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए सत्संकल्प बनाये रखो।* बाकी के लिए, यानी परिणाम के लिए हमें धीरज धरना होगा।

अपने प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१ मई, १९४४

*

यहां जो भी काम दिया जाता है उसके लिए पूरी सामर्थ्य और भागवत

कृपा भी साथ-ही-साथ दी जाती है ताकि काम उस तरह किया जा सके जैसे किया जाना चाहिये। अगर तुम सामर्थ्य और भागवत कृपा का अनुभव नहीं करते तो यह इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारे मनोभाव में कुछ भूल है। श्रद्धा की कमी है या तुम फिर से पुराने ढर्रों और पुरानी मान्यताओं में जा गिरे हो और इस तरह सारी ग्रहणशीलता खो बैठे हो।

१ अक्तूबर, १९५२

*

हमारे काम की सिद्धि में जो प्रतिरोध आता है वह उसके महत्त्व के अनुपात में होता है।

१० अक्तूबर, १९५४

*

काम के लिए वर्तमान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है। भूतकाल को रास्ते में न आना चाहिये और भविष्य को तुम्हें खींच न ले जाना चाहिये।

२१ दिसम्बर, १९५४

*

अगर तुम अगली चीज के बारे में सोचते रहो तो तुम्हारा काम कभी अच्छा नहीं हो सकता। काम के लिए वर्तमान सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। भूत तुम्हें पीछे न घसीट सके और भविष्य आगे खींच न सके। तुम्हें वर्तमान पर पूरी तरह एकाग्र होना चाहिये, उस काम पर जो तुम कर रहे हो। तुम जो कर रहे हो उस पर तुम्हें इतना अधिक एकाग्र होना चाहिये मानों सारे जगत् का निस्तार केवल तुम्हारे काम पर निर्भर है।†

*

जब तक तुम कड़ी मेहनत न करो, तुम शक्ति नहीं पाते क्योंकि उस हालत में तुम्हें उसकी जरूरत नहीं होती और तुम उसके अधिकारी नहीं होते। तुम्हें शक्ति तभी मिलती है जब तुम उसका उपयोग करते हो।

१३ अगस्त, १९५५

*

तुमने जो काम हाथ में लिया है उसमें सच्चे रहो और भागवत कृपा हमेशा तुम्हारी सहायता के लिए मौजूद होगी।

१४ अप्रैल, १९५९

*

अपने काम पर एकाग्र होओ—वही तुम्हें बल देता है।

आशीर्वाद।

१० सितम्बर, १९६१

*

सरल और शान्त हृदय और स्थिर मन के साथ अपना काम जारी रखो। अभीप्सा आवश्यकता के अनुसार धीरे-धीरे आयेगी।

२१ अप्रैल, १९६५

*

मुझे काफी समय से लग रहा है कि मुझे अपने बाहरी क्रिया-कलाप सीमित कर देने चाहिये और अपने-आपको निश्चल कार्य में लगाना चाहिये जिसमें बहुत दौड़-भाग न करनी पड़े।

मैं एक तरह के आन्तरिक संकट के दौर से गुजर रहा हूं। मेरा जीवन लक्ष्यहीन होता जा रहा है। बार-बार आने वाला एक स्वप्न मुझे मेरी आन्तरिक अस्थिरता के बारे में चेतावनी दे रहा है। मेरी तात्कालिक आवश्यकता यह है कि आन्तरिक सन्तुलन और स्थिरता प्राप्त करूं। अंधकार और घोर तमस् घटने चाहियें।

अगर माताजी स्वीकृति दें तो मैं अपने विभाग के काम से छुटकारा पाना चाहूंगा। फिर भी मैं करूंगा वही जिसके लिए 'माताजी' आदेश दें। कृपया मार्ग दिखलाइये।

अगर तुम विभाग को छोड़ दोगे तो काम तबाह हो जायेगा। जैसे ही मुझे कुछ समय मिलेगा मैं तुम्हें सवेरे के समय बुलाऊंगी और तब हम इस विषय पर बातचीत करेंगे।

मैं जितना अधिक बढ़ती हूं उतना ही जानती जाती हूं कि कार्य के द्वारा ही श्रीअरविन्द का पूर्णयोग अच्छे-से-अच्छी तरह किया जाता है।

प्रेम और आशीर्वाद।

९ अक्तूबर, १९६६

*

माताजी,

मेरा मन बहुत परेशान है। पता नहीं मैं कहां हूं। हमने जो काम हाथ में लिया है वह बहुत बड़ा है। हम बहुत-सी चीजों के लिए वचनबद्ध हैं। मुझे क्या करना चाहिये यह न तो अन्दर से स्पष्ट है न बाहर से। हर रोज निर्णय बदलते हैं, नये प्रश्न उठते हैं, अहंकार के आगे ऐसी स्थितियां आती हैं जिन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। मैं माताजी से प्रार्थना करता हूं कि मुझे विभाग के काम से तब तक के लिए मुक्त कर दिया जाये जब तक मुझे कोई स्पष्ट पथ-प्रदर्शन न मिले या माताजी के निश्चित आदेश न मिलें कि मुझे क्या करना चाहिये।

यह एक व्यक्तिगत संकट है। मेरा लोगों से झगड़ा या शिकायत नहीं है। मैं अपना मुंह बन्द रखना चाहता हूं और उस दिन की प्रतीक्षा करना चाहता हूं जब मैं अपने सामने प्रकट होने वाले प्रकाश के सन्देश को पढ़ सकूं।

मैं माताजी के प्रकाश के लिए प्रार्थना करता हूं।

कितना अच्छा हो यदि तुम प्रभावित न होओ और अपना काम जारी रखो। अभी इतना अधिक काम करना है और सबकी सहायता की बहुत सख्त जरूरत है।

अगर तुम मुझसे मिलना चाहते हो तो मैं तुमसे मिलकर खुश होऊंगी लेकिन यह याद रखो कि मैं कभी अकेली नहीं होती और बोलना मुश्किल है।

बहरहाल, विश्वास रखो कि मेरा प्रेम और आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

७ अगस्त, १९६९

*

माताजी,

मेरे सामने एक वैयक्तिक समस्या है और मैं माताजी के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करता हूं।

अभी तक मुझे किसी आन्तरिक पथ-प्रदर्शन का अनुभव नहीं होता। मेरे दिन भली-भांति नहीं बीतते। मैं विभाग के काम में लगा तो हूं पर मुझे लगता है कि वहां मेरी पूछ नहीं है या मेरे ऊपर विश्वास नहीं किया जाता। लेकिन मैं किसी साधारण विचार या भाव का पथ-प्रदर्शन नहीं चाहता। कभी-कभी एकान्तवास की बहुत इच्छा होती है। मैं प्रार्थना करता हूं कि मुझे जरा पक्की अनुभूति हो कि मैं वही कर रहा हूं जो मेरे 'स्वामी' मुझसे करवाना चाहते हैं। मेरी निजी पसन्द-नापसन्द और मेरा अहं कर्म या शब्द की शुद्धि को कलंकित न करने पायें।

"माताजी" ही मेरा मन्त्र हैं और मैं 'उन्हीं' की शरण में हूं।

न सिर्फ तुम्हारी जरूरत है बल्कि तुम काम के लिए अनिवार्य हो। तुम्हारे बिना वह ठीक ढंग से न होगा। इसलिए मैं तुमसे धीरज रखने के लिए कहती हूं। मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को महत्त्व न दो।

प्रेम और आशीर्वाद।

३ मई, १९७०

*

काम हाथ में ले लो और श्रद्धा रखो; आवश्यकता के अनुपात में शक्ति आयेगी। तुम्हारी ग्रहणशीलता तुम्हारी श्रद्धा और तुम्हारे विश्वास पर निर्भर है।

प्रेम और आशीर्वाद।

२४ दिसम्बर, १९७१

चुपचाप काम करो

साधना के लिए और काम के लिए हमेशा यही अच्छा है कि *चुपचाप काम करो*।

*

जब कोई काम करना हो तो उसके बारे में जितना कम बोला जाये उतना ही अच्छा।

*

कम-से-कम बोलो।
काम जितना अधिक कर सको करो।

*

"क" की यह बहुत बुरी आदत है कि जब लोग काम कर रहे होते हैं तो वह आकर बातें करने लगता है। अगर वह अपने-आप काम नहीं करता तो कम-से-कम उसे औरों को तो ईमानदारी से काम करने देना चाहिये।

तो अगर वह फिर से तुम्हारे काम करते समय बातें करने आये तो तुम ही उसे कह सकते हो—"नहीं अभी नहीं, मैं काम कर लूं उसके बाद हम लोग बातें करेंगे।"

७ जनवरी, १९३३

*

मुझे लगता है कि सचाई का प्रमाण काम में है, योजना बनाने में नहीं।

ठीक यही बात है जो मैं उन्हें समझाने की कोशिश करती रही हूं, लेकिन बोलने और योजना बनाने की वृत्ति इतनी जबर्दस्त है कि उसे रोका नहीं

जा सकता। हम आशा करें कि कुछ काम भी किया जायेगा।

*

माताजी, मेरी सत्ता नीरवता में समय बिताना चाहती है लेकिन मेरे सहायकों के कारण यह नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि जब मैं गम्भीर होता हूं तो मुझसे कुछ पूछना मुश्किल होता है। इससे काम में गड़बड़ पैदा होती है। माताजी, क्या आप मुझे कुछ सलाह देंगी?

मैं तुम्हारा प्रश्न भली-भांति नहीं समझ पायी। निश्चय ही काम जितना बन पड़े उतनी ईमानदारी के साथ करना चाहिये लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हें गम्भीर होना चाहिये। जरूरी यह है कि हमेशा शान्त रहो और निश्चल ऊर्जा से भरे रहो।

भौतिक चीजों की सम्भाल

माताजी, मैं अपनी चीजें बार-बार क्यों खोता रहता हूं?

क्योंकि तुम चीजों को *काफी हद तक अपनी चेतना में* नहीं रखते।

*

चीजों को व्यर्थ में नष्ट करने की जगह उनका उपयोग करना हमेशा कहीं अच्छा होता है।

*

यह एक अज्ञान की क्रिया थी।

अगर उचित भाव से लिये जाते तो पर्दे अभी और दो या तीन वर्ष चल सकते थे। गलत भाव से लिये जाने पर वे एक महीने में ही चिन्दियां बन सकते थे। चीजों में भी उनकी अपनी चेतना होती है।

*

भगवान् चीजों में भी हैं इसलिए उनको सावधानी से बरतना चाहिये।

१७ मई, १९५५

*

तुम जिन भौतिक चीजों का उपयोग करते हो उनको ठीक से सम्भाल कर न रखना निश्चेतना और अज्ञान का चिह्न है।

अगर तुम भौतिक चीज की—वह चाहे कुछ भी क्यों न हो—देखभाल नहीं करते तो तुम्हें उसका उपयोग करने का कोई अधिकार नहीं है।

तुम्हें उसकी देखभाल इसलिए नहीं करनी चाहिये कि तुम उससे आसक्त हो बल्कि इसलिए कि वह भी भागवत चेतना के कुछ अंश को अभिव्यक्त करती है।

सामान्य

अगर कोई मन्दिर, जो किसी महान् शिल्पी की परिकल्पना के अनुसार बना हो, शेखी बघारने लगे, "मेरे गुणों को देखो, क्या मैं सुन्दर नहीं हूं, सुनिर्मित, ठोस और टिकाऊ नहीं हूं? सचमुच मैं प्रशंसा का अधिकारी हूं!"—मानों वही अपनी पूर्णता का रचयिता है, तो तुम क्या कहोगे? हमें यह बहुत मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद लगेगा, लेकिन फिर भी हम हमेशा यही तो करते रहते हैं। मन्दिर की भांति हम भी उस महान् सचेतन शक्ति से अनभिज्ञ हैं जिसने हमें वह बनाया है जो हम हैं। और चूंकि हम उस 'परम कर्ता' के श्रम को नहीं देख सकते इसलिए हम उस 'कार्य' का श्रेय अपने-आपको दे लेते हैं।

१९ जनवरी, १९३३

*

कर्म की शक्ति: वह शक्ति जो भगवान् के प्रति सच्चे समर्पण का परिणाम होती है।

*

एक बार चेतना अभीप्सा में प्रतिष्ठित हो जाये तो वह कार्य या कार्य के अभाव पर निर्भर नहीं रहती।

१७ दिसम्बर, १९३३

*

एक काम का समय होता है और एक एकाग्रता का। अगर भूल से तुम एकाग्रता के समय को काम शुरू करने के लिए चुन लो तो काम निश्चय ही असफल होगा।

लेकिन अगर तुम श्रद्धा को जीवित-जाग्रत् रखो तो असफलता भी भगवान् तक पहुंचने का छोटा मार्ग बन सकती है।

*

यह सच है कि भगवान् का संरक्षण हमेशा हमारे चारों ओर रहता है लेकिन वह पूरी तरह तभी काम करता है जब हम अपरिहार्य संकटों से घिरे हों; यानी, अगर संकट अचानक ऐसे समय उठ खड़े हों जब हम भगवान् के लिए कुछ काम कर रहे हों। तब संरक्षण अच्छे-से-अच्छा काम करता है। लेकिन कोई ऐसा काम हाथ में ले लेना जो बिलकुल अनिवार्य न हो, जो निश्चित रूप से उपयोगी भी न हो पर हो बहुत ज्यादा संकटाकीर्ण और तब यह आशा रखना कि भगवान् तुम्हें सभी सम्भव संकटों से बचायेंगे, ऐसी क्रिया है मानों भगवान् को चुनौती दी जा रही हो और भगवान् इसे कभी स्वीकार न करेंगे।

*

जब काम का आरम्भ भगवान् की इच्छा से होता है तो वह हमेशा पवित्र होता है।

*

अगर तुम पूरी सचाई के साथ भागवत इच्छा को प्रकट करने के लिए कार्य करते हो तो बिना अपवाद के हर काम निस्स्वार्थ बन सकता है। परन्तु जब तक यह स्थिति न आ जाये तब तक कुछ ऐसे काम होते हैं जो भगवान् के साथ सम्पर्क जोड़ने के लिए ज्यादा अनुकूल होते हैं।

*

हर एक को अपनी प्रगति के अनुकूल काम ढूंढ़ना चाहिये।

*

अच्छा भौतिक कार्य जो सामान्य क्षमताओं से बढ़कर न हो शारीरिक स्वास्थ्य और नैतिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए सबसे अधिक उपयोगी है।

१३ जुलाई, १९३५

*

क्या अपने-आप शारीरिक काम करने का कोई इरादा नहीं है तुम्हारा? लेकिन शरीर के क्षेम के लिए यह बिलकुल अनिवार्य है।

३० जनवरी, १९४५

*

आओ, हम स्थिर मन और शान्त हृदय के साथ खुशी से काम करें।

१६ मई, १९५४

*

समस्त कार्य को एक खेल होना चाहिये, लेकिन एक दिव्य-खेल जो भगवान् के लिए और भगवान् के साथ खेला जाता है।

*

भगवान् के लिए काम करना बहुत अच्छा है, यह आनन्द है।

लेकिन भगवान् के साथ काम करना, उससे भी कहीं अधिक गहरा और अधिक मधुर परम आनन्द है।

१२ जुलाई, १९५७

*

परिश्रम के बिना कोई अस्तित्व नहीं है—अगर तुम परिश्रम से निकलना चाहो तो तुम्हें जीवन से बाहर निकलना होगा। उसे पाने का एकमात्र उपाय है निर्वाण। और वह मार्ग, उसका अनुसरण करना, सभी परिश्रमों से बड़ा परिश्रम है।

६ नवम्बर, १९६०

*

हमें, हममें से हर एक को एक भूमिका निभानी है, एक कार्य करना है, एक जगह है जिसे केवल हम ही भर सकते हैं।

*

(आश्रम टंकण विभाग के वार्षिकोत्सव पर सन्देश)

उन सबको आशीर्वाद जो ईमानदारी, सत्संकल्प, नियमितता और सुरुचि के साथ काम करते हैं और उन सबको भी जो सीखना और प्रगति करना चाहते हैं।

२९ मार्च, १९६६

*

काम अपने पूरे दिल से जितना अच्छे-से-अच्छा कर सकते हो करो और मेरे आशीर्वाद और मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे।

१२ मई, १९७१

भाग ७

सत्ता के भाग

अन्तरात्मा (चैत्य)

अन्तरात्मा वह है जो भगवान् को कभी भी छोड़े बिना उनके बाहर आती है और अभिव्यक्ति को कभी भी समाप्त किये बिना 'उनके अन्दर' वापिस चली जाती है।

अन्तरात्मा भगवान् है जिसने भगवान् होना छोड़े बिना व्यक्तिरूप धारण किया है। अन्तरात्मा के अन्दर व्यक्ति और भगवान् शाश्वत काल से एक हैं।

अतः अपनी अन्तरात्मा को पाने का अर्थ है भगवान् के साथ एक होना।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि अन्तरात्मा की भूमिका है मनुष्य को सच्ची सत्ता बनाना।

*

मतों और सम्प्रदायों के अनुसार सिद्धान्त बदलते हैं और हर एक अपनी मान्यताओं के समर्थन में उत्तम-उत्तम कारणों को सामने रखता है।

निश्चय ही मनुष्य जो दावे करता है उनमें सत्य होता है और हर एक न केवल सम्भव है बल्कि पृथ्वी के इतिहास में उसका अस्तित्व रह चुका है।

मैं केवल अपने निजी अनुभव की बात कह सकती हूं : अन्तरात्मा भगवान् है, 'परम प्रभु' का शाश्वत अंश है, इसलिए वह अपने से भिन्न किसी भी नियम से सीमित या बद्ध नहीं हो सकती।

भगवान् ने इन अन्तरात्माओं को जगत् में अपना कार्य करने के लिए प्रकट किया और इनमें से हर एक पृथ्वी पर विशेष प्रयोजन, विशेष काम और विशेष नियति को लेकर आती है। वह अपने अन्दर अपना धर्म लिये रहती है जो केवल उसके अपने लिए अनिवार्य होता है और वह सामान्य धर्म नहीं बन सकता।

अतः स्पष्ट है कि सम्भवन की शाश्वतता में किसी भी कल्पनीय या अकल्पनीय चीज का अस्तित्व होता है।

अन्तरात्मा शाश्वत और सार्वभौम है, और उसके लिए इन सब अक्षमताओं और असम्भावनाओं में कोई सत्य नहीं है।

*

जब तुम किसी की अन्तरात्मा से बात करते हो, तो तुम हमेशा उसी एक अन्तरात्मा से बोलते हो चाहे शरीर, जाति और संस्कृति में कितना भी भेद क्यों न हो।

२३ सितम्बर, १९४१

*

अन्तरात्मा भगवान् को सोच नहीं सकती लेकिन 'उन्हें' निश्चिति के साथ जानती है।

२६ दिसम्बर, १९५४

*

तुम्हारी अन्तरात्मा दिव्य प्रकाश में ऐसे खिलती है जैसे कोई फूल सूरज के आगे खुलता है।

३० मई, १९५६

*

मैं अपनी अन्तरात्मा की प्रगति कैसे करवा सकता हूं?

अपनी अन्तरात्मा पर कोई क्रिया करने से पहले तुम्हें उसके बारे में सचेतन होना चाहिये। और जब तुम अपनी अन्तरात्मा के बारे में सचेतन हो जाओगे तो शायद यह देखोगे कि तुम अपनी अन्तरात्मा की प्रगति करवाओ इसके बदले तुम्हारी अन्तरात्मा ही तुम्हें प्रगति करने में सहायता देगी।

२३ अगस्त, १९६४

*

अन्तरात्मा क्या है और वह हमारे अन्दर किस रूप में रहती है?

अन्तरात्मा का पहला रूप है भगवान् के प्रकाश की एक चिंगारी।

विकास द्वारा वह व्यक्तिगत सत्ता बन सकती है और तब वह चाहे जो रूप ले सकती है।

अगस्त, १९६६

*

मन, जीवन और शरीर को वह होना और जीना चाहिये जो 'अन्तरात्मा' जानती है और वह है।

*

जब किसी की अन्तरात्मा जाग्रत् हो तो उससे छुटकारा पाना आसान नहीं होता; तो ज्यादा अच्छा यह है कि उसके आदेशों का पालन किया जाये।

*

अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानो, केवल उसे ही तुम्हारे जीवन पर शासन करने का अधिकार है।

*

चैत्य केन्द्र : ज्योतिर्मय और शान्त-स्थिर, उसे मानव सत्ता पर शासन करने के लिए ही बनाया गया है।

*

चैत्य अपनी अभिव्यक्ति खुलकर तभी कर पाता है जब वह सारी सत्ता पर शासन करता है।

*

चैत्य शक्ति प्रकृति की गतिविधियों को आयोजित करती है ताकि वे प्रगति कर सकें।

*

चैत्य-प्रभाव तले सभी गतिविधियां सन्तुलित हो जाती हैं।

*

चैत्य प्रभाव भौतिक को भगवान् के प्रति मुड़ने के लिए बाधित करता है।

*

वर दे कि यह घर चैत्य का प्रतीक हो, शाश्वत भागवत 'उपस्थिति' का मन्दिर।

*

चैत्य केन्द्र की चेतना में निवास करो; इस भांति तुम्हारी इच्छा केवल परम प्रभु के 'संकल्प' को व्यक्त करेगी और तब तुम्हारी रूपान्तरित सत्ता 'भागवत प्रेम' को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने के योग्य होगी।

२५ सितम्बर, १९३४

*

मानव सत्ता का केन्द्र है चैत्य जो अन्तरस्थ भगवान् का निवास-स्थान है। एकीकरण का अर्थ है इस केन्द्र के चारों तरफ सत्ता के सभी भागों (मानसिक, प्राणिक और भौतिक) की व्यवस्थित अवस्थिति और उनमें सामञ्जस्य जिससे सत्ता की सभी गतिविधियां भागवत उपस्थिति की इच्छा की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति हों।

*

जब तक कि सम्पूर्ण व्यक्तिगत चेतना केन्द्रीय 'भागवत उपस्थिति' के चारों तरफ व्यवस्थित न हो जाये तब तक क्रियाएं अस्थायी होती हैं यद्यपि वे बार-बार आती रहती हैं, और हम उनसे स्थायी होने की आशा नहीं कर सकते।

*

पार्थिव सत्ता में चैत्य के अतिरिक्त कुछ भी स्थायी नहीं है।

*

(किसी साधक ने लिखा कि साधना के प्रकाशपूर्ण और आनन्दमय दिनों के बाद अन्धकार के अन्तराल बार-बार लौट आते हैं।)

यह इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारी सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रीय चैत्य 'उपस्थिति' के चारों तरफ़ एकत्र नहीं है।

यह एक व्यक्तिगत कार्य है जिसे हर व्यक्ति को अपने-आप करना चाहिये। सहायता हमेशा होती है लेकिन उसकी क्रिया का प्रभाव ग्रहणशीलता और सचेतन पुकार के अनुपात में होता है।

आखिर यह प्रयास में धैर्य का प्रश्न है।

*

मानव सत्ता बहुत-से भिन्न-भिन्न भागों से बनी है और उन सभी भागों को सामञ्जस्य में लाने और एक करने के लिए समय और सचेतन प्रयास की आवश्यकता होती है। जब तुमने समर्पण किया तो तुम्हारी सम्पूर्ण सत्ता ने समर्पण नहीं किया। धीरे-धीरे कोई दूसरा भाग सतह पर आ गया जिसने समर्पण नहीं किया था और तुम्हारे समर्पण की खुशी गायब हो गयी और उसके स्थान पर नीरसता और उदासीनता आ गयी। लेकिन कुछ समय बाद यह भाग भी परिवर्तित हो जाता है और इस तरह सुखी अवस्था फिर से आ जाती है।

२६ जून, १९४९

*

तुम्हारा पत्र अभी-अभी मिला है जो तुम्हारी समस्या लेकर आया है। वैसे यह सभी मनुष्यों के जीवन की समस्या है, विशेष रूप से जब वे आन्तरिक विकास की अमुक अवस्था तक पहुंच चुके हों लेकिन अभी तक अपनी सचेतन अन्तरात्मा के चारों तरफ अपनी सत्ता के एकीकरण द्वारा आध्यात्मिक मुक्ति के शिखर तक न पहुंचे हों। क्योंकि एकीकरण का

अभाव ही सारी समस्याओं का कारण है। सत्ता का एक भाग एक ओर खींचता है दूसरा दूसरी ओर, कभी पहला ज्यादा बलवान् होता है और वह जीवन को अमुक मोड़ दे देता है, और कभी दूसरा और तब वह मोड़ अचानक बदल जाता है और इसका परिणाम होता है असंगति। और चूंकि बहुधा *असन्तुष्ट* भाग अपनी सन्तुष्टि के अभाव को प्रकट करने के लिए सतह पर आता है *तो* जब तक आदमी महात्मा न हो, वह जो भी जीवन जीता है उससे कभी सन्तुष्ट नहीं होता और हमेशा उस जीवन से वंचित रह जाता है जिसे वह जी सकता था—चाहे वह एक दिशा में हो या दूसरी।

तुम्हारे मामले में कुछ और भी है। क्योंकि तुम्हारी अन्तरात्मा मेरी सत्ता से बहुत अधिक जुड़ी रहती है और जैसे-जैसे अतिमानसिक चेतना के साथ सम्पर्क अधिकाधिक पूर्ण और निरन्तर होता जा रहा है वैसे-वैसे वह तुम्हारी अन्तरात्मा पर बहुत जोरों से, करीब-करीब दुर्निवार आकर्षण की तरह कार्य करता है। १९५८ में यही हुआ था।

और अन्त में, "आसान और सुखद जीवन" केवल बाहरी सत्ता को सन्तुष्ट कर सकता है; लेकिन भौतिक सत्ता में जो चीज अन्तरात्मा के प्रभाव का उत्तर देती है उसे अपने खिलने के लिए एक ऐसे जीवन की आवश्यकता होती है जो अन्तरात्मा की आवश्यकताओं के अधिक अनुरूप हो और जब उसे वह न मिले तो वह "मुरझाने" लगती है।

३ दिसम्बर, १९५९

*

ऐसा इसलिए है चूंकि व्यक्ति एक ही टुकड़े का बना नहीं है, बल्कि बहुत-सी विभिन्न सत्ताओं से बना है, जो कभी-कभी एक-दूसरे का विरोध तक करती हैं; कुछ आध्यात्मिक जीवन चाहती हैं, और कुछ इस दुनिया की चीजों से चिपकी रहती हैं। इन सभी भागों को सामञ्जस्य में लाना और एक करना लम्बा और कठिन काम है।

सबसे अधिक विकसित भागों द्वारा प्राप्त शक्ति और प्रकाश आत्मसात् करने की प्रक्रिया द्वारा बाकी सत्ता में धीरे-धीरे फैल जाते हैं, और आत्मसात् की इस अवधि में जो भाग सामने होते हैं उनकी प्रगति रुकी-सी मालूम

होती है। इसी के बारे में श्रीअरविन्द कह रहे थे।

२९ अक्तूबर, १९६०

*

वास्तव में, तुम्हारे सभी विभिन्न भाग अपनी-अपनी युक्ति में ठीक हैं, और बुद्धिमानी यही है कि चेतना में पर्याप्त गहरे उतरो जिससे कि तुम यह जान सको वे किस स्थान पर मिलते और सहमत होते हैं, परस्पर विरोध करने की जगह कहां एक-दूसरे को पूरा करते हैं।

ठीक-ठीक काम के लिए, कठोर सिद्धान्तों के द्वारा पैदा की गयी कठिनाइयों की अपेक्षा साधारणतः सहज और सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से काम करना ज्यादा अच्छा होता है, लेकिन यह भी सम्पूर्ण नहीं है—हर अवसर पर आन्तरिक नीरवता में ऊपर का पथ-प्रदर्शन ग्रहण करना आदर्श अवस्था है।

निरन्तर अभ्यास और सद्‌भावना से ऐसा करना सम्भव हो जाता है।

*

केवल चैत्य प्रेरणा ही सच्ची है। वह सब जो प्राण और मन से आता है, अहं के साथ मिला-जुला और मनमाना होता ही होता है। व्यक्ति को बाहरी सम्पर्क से होने वाली *प्रतिक्रिया* के रूप में नहीं बल्कि प्रेम और सद्‌भावना की अटल अन्तर्दृष्टि के साथ कार्य करना चाहिये। बाकी सब कुछ मिश्रण होता है जो केवल भ्रमात्मक और मिश्रित परिणाम ला सकता है और अव्यवस्था को स्थायी बनाता है।

मार्च १९६१

*

वह चैत्य सत्ता नहीं होती जो निजी कारणों के लिए कष्ट पाती है, कष्ट पाते हैं मन, प्राण और अज्ञानी मनुष्य की साधारण चेतना। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि बाहरी चेतना और चैत्य चेतना के बीच का सम्पर्क अच्छी तरह से स्थापित नहीं हुआ होता। वह, जिसमें यह सम्पर्क भली-भांति स्थापित हो चुका हो, हमेशा प्रसन्न रहता है।

चैत्य सत्ता ऐक्य को सम्पन्न करने के लिए अध्यवसाय और लगन के साथ काम करती है लेकिन वह कभी शिकायत नहीं करती और यह जानती है कि उपलब्धि के मुहूर्त के आने की प्रतीक्षा कैसे की जाये।

*

अपने-आप में बाहरी सत्ता बहुत उत्तरदायी नहीं होती, वह अधिकतर 'प्रकृति' की शक्तियों का खिलौना होती है। लेकिन आन्तरिक या उच्चतर सत्ता, गभीरतर चेतना हमारी नियति की अधिष्ठात्री और निर्मात्री होती है। इसीलिए इस परम चेतना को खोजना और इसके साथ जुड़ना इतना महत्त्वपूर्ण है जिससे कि जीवन की सभी असंगतियों और 'प्रकृति' के सभी द्वंद्वों का अन्त हो जाये।

१७ मार्च, १९६८

*

चैत्य को पाने के लिए तुम्हें प्राण की कामनाओं पर विजय पानी होगी और मन को शान्त, निश्चल-नीरव करना होगा, उसके बाद भगवान् के प्रति निष्कपट निवेदन करना होगा। चैत्य मनुष्य में उन्हीं का यन्त्र है।

चैत्य के साथ आन्तरिक सम्पर्क ठोस और निर्विवाद तथ्य है जो सभी सच्ची चेतनाओं पर अपना प्रभाव आरोपित करता है।

५ *अप्रैल, १९७२*

*

चैत्य हमेशा उपस्थित है, और वह शक्तिशाली है।

कमजोर तो ग्रहणशीलता है।

१ मई, १९७२

*

अहं के शासन से छुटकारा पाने के लिए सबसे अच्छा उपाय है चैत्य सत्ता को पाना, जो मनुष्यों में भगवान् का यन्त्र है।

अपने अन्दर गहरे जाओ (अर्थात् हृदय-प्रदेश में) और सतत अभीप्सा

करो। चैत्य का सच्चा मिलन अचूक है।

८ मई, १९७२

*

यह अनिवार्य है कि हर एक अपने चैत्य को पाये और उसके साथ पक्की तरह से एक हो जाये। चैत्य द्वारा ही अतिमानस अपने-आपको अभिव्यक्त करेगा।

२४ जून, १९७२

*

मेरे अन्दर यह अन्धकारमय और जड़मति व्यक्तित्व क्यों है? क्या यह सभी में छिपा रहता है या केवल मैं ही एक कठिन नमूना हूं?

निश्चय ही तुम एक अकेले नहीं हो। ऐसे बहुत-से हैं। जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण सत्ता को चैत्य के *सचेतन शासन* के चारों ओर केन्द्रित कर लिया है केवल वे ही इससे अपने-आपको मुक्त कर सकते हैं।

जुलाई, १९७२

*

जब आन्तरिक अवस्था अगले कदम के लिए तैयार होगी तो आप उसका पथ-प्रदर्शन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जिस भी रूप में चाहें, करेंगी।

अगला कदम है अपनी चैत्य सत्ता को पाना और उसके साथ एक होना।

१० अगस्त, १९७२

*

मानव सत्ता विभिन्न भागों से बनी है जो कभी-कभी स्पष्ट रूप से अलग-अलग होते हैं। वे केवल चैत्य प्रभाव और क्रिया द्वारा एक हो सकते हैं। अपने उद्यम में डटी रहो और तुम निश्चित रूप से सफल होओगी।

आशीर्वाद।

५ अक्तूबर, १९७२

*

तुम जिसे खोजते हो वह हमेशा तुम्हारे लिए तैयार है। चैत्य घुमाव को पूरा होने दो और वह स्वयं तुम्हें उस तक ले जायेगा जिसकी तुम अभीप्सा करते हो।

*
* *

चैत्य *कभी भी* अवसन्न नहीं होता।

२१ मार्च, १९३४

*

मैं कहती हूं कि चैत्य *अवसाद को नहीं जानता* क्योंकि उसका स्वभाव दिव्य है और *भगवान् के अन्दर कोई अवसाद नहीं है।*

चैत्य खेद के साथ सत्ता के दूसरे भागों की बेवकूफी देख सकता है, लेकिन उसका अपना स्वभाव ऐसा है कि उसके लिये अवसन्न होना *असम्भव* है।

२२ मार्च, १९३४

*

स्थायी सुख का मूल है चैत्य में।

*

चैत्य पवित्रता : चैत्य की स्वाभाविक अवस्था।

*

अपने स्वभाव से ही चैत्य शान्त-स्थिर है।

*

चैत्य शान्ति : यह सहज होती है और किसी कठिनाई को नहीं जानती।

*

चैत्य प्रार्थना : सहज और उत्कट।

*

चैत्य निवेदन : भगवान् के सम्बन्ध में चैत्य की यह सहज वृत्ति है।

*

चैत्य उदारता देने के आनन्द के लिए देती है।

*

चैत्य पूर्णता का अर्थ है सब चीजों पर मुस्कुराना।

मन

मन : केवल एक यन्त्र

मन : उसकी सच्ची योग्यता भगवान् के प्रति समर्पण पर निर्भर है।

*

पवित्रीकृत मन : भगवान् के प्रति समर्पण के लिए तैयार मन।

*

मानसिक समर्पण : यह तब होता है जब मन समझ जाता है कि वह केवल एक यन्त्र है।

*

मन का परिवर्तन : मन ने अपने-आपको दर्प से मुक्त कर लिया है और जान लिया है कि वह केवल एक यन्त्र है।

*

स्पष्ट मन : परिवर्तन के मार्ग पर पहला कदम।

*

सच्ची मानसिक निष्कपटता का जन्म : इसके जन्म के साथ मन यह समझ लेगा कि वह केवल एक माध्यम है, अपने-आपमें लक्ष्य नहीं।

*

मन को यह सीखना चाहिये कि केवल भगवान् के आदेशों को ही अभिव्यक्त करे।

*

मानसिक अभिव्यक्ति की शक्ति का तब तक कोई मूल्य नहीं जब तक

कि वह भगवान् की सेवा में न हो।

*

तर्क बुद्धि : भगवान् की सेवा में हो तो उत्तम यन्त्र।

*

भौतिक मन काम करने का अच्छा यन्त्र बन जाता है जब वह केवल वही बने रहने में सन्तुष्ट रहे।

*

जब मन भगवान् की ओर मुड़ता है तो वह शक्तिशाली यन्त्र बन जाता है।

*

ज्योतिर्मय मन का कार्य : सत्ता को भगवान् की ओर ले जाने में यह बहुत शक्तिशाली होता है और प्रगति करने के लिए बहुत उपयोगी।

*

उच्चतर मन : इसकी श्रेष्ठता भागवत प्रकाश के प्रति खुलने की क्षमता में है।

*

उच्चतर मन की वाणी : 'सत्य' की खोज में।

*

मन अपनी पूरी उपयोगिता तब पाता है जब वह यह जान लेता है कि उच्चतर प्रेरणा को कैसे सुना जाये।

*

अतिमानसिक पथ-प्रदर्शन के लिए मन की अभीप्सा : मन अनुभव

करता है कि उसकी जटिलता शक्तिहीन है और वह अपने-आपको ज्योतित करवाने के लिए उच्चतर प्रकाश की मांग करता है।

*

अतिमानसिक प्रकाश के प्रति मन का उत्तर : सिद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण कदम का प्रतिनिधित्व करता है।

*

मन में विजय : मन में अतिमानसिक 'सत्य' का राज्य है।

*

अतिमानसिकभावापन्न मन : रूपान्तरण के लिए मन यन्त्र बन गया है।

मानसिक सीमाएं और दुर्बलताएं

क्या कोई मन्दिर में गन्दे पैरों से प्रवेश करता है?

उसी तरह, व्यक्ति आत्मा के मन्दिर में दूषित मन के साथ प्रवेश नहीं करता।

*

मनुष्यों में मानसिक क्रिया-कलापों के विकास के साथ-साथ आत्म-वंचना की सूक्ष्मता भी बढ़ती है। वे जितने अधिक बौद्धिक होते जाते हैं उतने अधिक आत्म-वंचना में भोले और साथ-साथ कपटपूर्ण भी होते हैं।

*

कोई भूल हो जाने पर हमेशा कोई अनुकूल व्याख्या प्रस्तुत करने की आदत होती है—ऐसा लगता है कि अनुकूल व्याख्या मन से सहज रूप में स्वत: ही कूद पड़ती है—जो भूल को सच्चाई के साथ स्वीकार नहीं करने देती।

*

तुम्हारा मन आवेश से चालित है और आवेश के समर्थन में वह एक ऐसी ऐंठ दे देता है जो तुम्हें चीजों के सत्य को देखने से रोकती है। इस ऐंठ से अपने-आपको बचाओ, आवेश के बारे में सचेत होओ।

ऐसी ऐंठ के द्वारा विकृत क्रिया कपटपूर्ण प्रतीत होती है।

इस दुराग्रही विकार से हमेशा सावधान रहो।

यह मेरा नव वर्ष का उपहार है।

*

ऐसा हो कि यह नव वर्ष तुम्हारे लिए अज्ञानी और दर्प-भरे मन से मुक्ति लाये और वह प्रबुद्ध हो; ऐसे दर्प-भरे मन से जो सोचता है कि वह समस्याओं के मूल तत्त्वों को जाने बिना भी सभी चीजों का निर्णय कर सकता है और वह अपनी अभिरुचियों और आसक्तियों के अनुसार निर्णय करता है।

*

सारा संसार भले नष्ट हो जाये लेकिन मेरी सनकें सन्तुष्ट हों! अहंकारी मन की यही मनोवृत्ति होती है, वह अपने सिद्धान्तों को सबके ऊपर लादना चाहता है।

दिव्य दृष्टि में सिद्धान्त और कामनाएं एक-सी चीजें हैं : सिद्धान्त मन की सनकें हैं उसी तरह जैसे कामनाएं प्राण की सनकें हैं।

*

मानसिक स्वैरकल्पना : अनियन्त्रित, अस्तव्यस्त, साधारणतः इसमें समन्वय का अभाव होता है।

*

कल्पना : प्रचुर और विविध, यह मोहक हो सकती है लेकिन इसे 'सत्य' का स्थान न देना चाहिये।

*

जो मिथ्या सोचते हैं वे मिथ्यात्व और दुःख-दैन्य में रहेंगे। गलत विचार से निकल आओ और तुम दुःख-कष्ट से बाहर निकल आओगे।

*

चीन के किसी वृद्ध ज्ञानी ने लिखा है, "विचार अपने-आप अपना दुःख पैदा करता है।"

*

अप्रिय विचार अप्रिय भावनाएं लाते हैं—अप्रिय भावनाएं तुम्हें भगवान् से दूर ले जाती हैं और तुम्हें उस शैतान के हाथों में निःशस्त्र फेंक देती हैं जो तुम्हें केवल हड़प लेना चाहता है—और यही अनन्त दुःख और कष्ट का मूल है।

*

मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि मेरे सिर के पिछले हिस्से में कोई अन्धकार बाधा दे रहा है। मैं सिर में भारीपन और अन्धकार का अनुभव करता हूं। ऐसा क्यों हो रहा है और यह क्या है?

बहुधा ये प्रहार बुरे विचारों के परिणाम होते हैं जो तुम्हारे अन्दर थे और अब वे पलटकर तुम्हारे ऊपर गिरते हैं।

३१ मई, १९३५

*

हम हमेशा उन चीजों से घिरे रहते हैं जिनके बारे में हम सोचते हैं।

*

तुम्हारा मन भी सन्देहों से भरा है और प्राण के जितना ही निन्दनीय है क्योंकि वह मिथ्यात्व में विश्वास रखता है।

*

भौतिक मन का एक प्रमुख कार्य है सन्देह करना। अगर तुम उस पर कान दो तो वह सन्देह के हजारों कारण ढूंढ़ निकालेगा। लेकिन तुम्हें यह जानना चाहिये कि भौतिक मन अज्ञान में काम करता है और पूरी तरह मिथ्यात्व से भरा है।

*

केवल प्रेम ही समझ सकता है और 'भागवत क्रिया-धारा' के मर्म तक पहुंच सकता है। मन, विशेष रूप से भौतिक मन उचित रूप से देखने में असमर्थ होता है और फिर भी वह हमेशा निर्णय करना चाहता है। मन में सच्ची, निष्कपट नम्रता ही, जो सत्ता पर चैत्य को शासन करने देती है, मनुष्यों को अज्ञान और अन्धकार से बचा सकती है।

*

हर बार जब मैं जरा ऊपर उठना चाहता हूं तो बाधा आती है।

तुम्हारी प्रगति के बारे में—ऐसा इसलिए होता है क्योंकि तुम *मानसिक रूप से* कोशिश कर रहे हो और मन हमेशा चेतना को सीमित करता है। केवल हृदय और चैत्य से उठती अभीप्सा ही प्रभावकारी हो सकती है। (और जब तुम कोशिश करना बन्द कर देते हो तो तुम मुझे अपने अन्दर काम करने देते हो और मैं उचित तरीका जानती हूं!)

*

तुम्हारा मन बहुत क्रियाशील है। वह तुम्हें मेरी इच्छा द्वारा यन्त्रवत् चलाये जाने में बाधा देता है।

२ सितम्बर, १९३७

*

मधुर मां,

ऐसा लगता है कि प्रगति के प्रति खुलने के लिए अपनी ओर से पुकार और दृढ़ प्रयास के बावजूद प्राण और भौतिक में मैं पर्याप्त रक्षण नहीं पा रही हूं।

मेरी प्यारी बालिका, तुम्हारा *मन* ही है जो तुम्हें प्राण और भौतिक में सहायता ग्रहण करने से रोकता है। इस सरपट दौड़ते मन को यथासम्भव शान्त करो और फिर तुम परिणाम देखोगी।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१७ जनवरी, १९६२

*

सभी तथाकथित मानव बुद्धिमत्ता की जटिलताओं के परे 'भागवत कृपा' की आलोकमयी सरलता कार्य करने के लिए प्रस्तुत है, यदि हम उसे कार्य करने दें।

जीवन बिलकुल सरल और आसान हो सकता था अगर मनुष्य का मन उसमें इतनी सारी व्यर्थ जटिलताएं न डाल देता।

२९ दिसम्बर, १९६२

*

एक बार मन अपना काम शुरू कर दे तो वह भागवत कृपा की क्रिया में बाधा डालता है।

*

मधुर अदिति,

आज सुबह सवा आठ बजे ये मानसिक शब्द स्पष्ट रूप से आये, "अब तुम्हें 'टीचर्स कालेज' में लौट जाना चाहिये।" यह एक ऐसा विचार है जिसके बारे में मैंने कभी सचेतन रूप से सोचा ही नहीं। क्या 'भगवान्' इसके पीछे हैं?

काल्पनिक मानसिक सुझावों से सावधान रहो!

प्रेम।

३ अप्रैल, १९६५

*

मन में रचनात्मक क्षमता : यह स्वाभाविक और बहुत सहज उपहार है।

*

माताजी, कभी-कभी जब मैं आपकी विश्वव्यापी उपस्थिति के प्रति सचेतन होने के लिए और स्वयं को 'आपके' साथ जोड़ने के लिए अपने मानसिक संकल्प का उपयोग करता हूं तो मैं शान्ति और 'आपके' स्पर्श के आश्वासन का अनुभव करता हूं। माताजी, क्या यह सच है या यह मेरी मानसिक रचना है?

इस मामले में इसका कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि कुछ ऐसी मानसिक रचनाएं होती हैं जो सच हो सकती हैं और जो *अनुभूति तक* सुरक्षित ले जाती हैं।

*

तुम मुझसे अनुभूति के बारे में कहलवाना और उसे इतना मानसिक रूप दिलवाना चाहते हो कि एक नयी "प्रणाली" की स्थापना हो जाये ताकि तुम अपनी नयी मानसिक धारणा पर जम कर बैठ सको।

*

मन इतना आलसी है कि वह सुविधाजनक उत्तर चाहता है। लेकिन चीज ऐसी नहीं है। हर एक व्यक्ति भिन्न है।

*

शायद कोई व्याख्या हो जो तुम्हारे मन को शान्ति दे सके। वस्तुतः सम्भावना यह है कि हर एक के लिए कोई-न-कोई व्याख्या हो—और व्याख्याएं भी विवादग्रस्त हो सकती हैं!... बेचारा मन! यह सचमुच एक परीक्षा है!!

*

प्रगति करने के लिए तुम्हें सभी पुरानी रचनाओं को एक तरफ फेंक देना होगा, सभी पूर्वकल्पित विचारों को ढा देना होगा। पूर्वकल्पित विचार ही वे असंख्य अभ्यस्त मानसिक रचनाएं हैं जिनमें तुम रहते हो, वे अटल

होते हैं इसलिए उनमें कोई नमनीयता नहीं होती और वे प्रगति नहीं कर सकते। इस सबको परे फेंक देना चाहिये। फिर नये विचारों का जन्म होता है, सक्रिय विचार का जो सर्जनशील होता है।

*

नमनीय मन की ऊर्जा प्रगति के किसी भी प्रयास से पीछे नहीं हटती।

*

मानसिक नमनीयता : सच्चे ज्ञान के लिए अनिवार्य।

*

आधुनिक सभ्यता में मनुष्य सतह पर काम करते हैं। मन जीवन का ऊपरी तल है; वे सतह पर काम करते हैं और अधिकाधिक गभीरता के साथ अध्ययन करके उस परम सत्य को ढूंढ़ना चाहते हैं जो पीछे है। जब कि सच्चा तरीका है आन्तरिक परम सत्य के साथ सीधे सम्पर्क में आना, उससे प्रेरित होकर, उसका पथ-प्रदर्शन पाना, बाहरी रचना बनाना जो परम सत्य की खोज के लिए नहीं स्वयं परम सत्य की सृष्टि हो; अर्थात्, 'सत्य ऊर्जा' जो मानव यन्त्र के माध्यम से बाहरी तौर पर अपने-आपको चरितार्थ करे।

मनुष्य हमेशा योजनाएं और मानसिक रचनाएं बनाते हैं और उन्हीं के आधार पर सर्जन करने का प्रयास करते हैं, लेकिन एक भी मानवीय सर्जन उनकी मानसिक रचना की पूर्ण संसिद्धि नहीं होता। मनुष्य हमेशा कुछ-न-कुछ जोड़ देते हैं, या फिर वह रचना ऐसी शक्ति के द्वारा बदल-सी जाती है जिसे वे समझ नहीं पाते; वे सोचते हैं ये भाग्य, दैव, परिस्थितियां और इसी तरह की चीजें हैं, लेकिन वस्तुतः यह परम सत्य-शक्ति है जो पृथ्वी पर अभिव्यक्त होने की कोशिश कर रही है और वही दबाव डालती है और स्वभावतः यह मानसिक और प्राणिक सर्जनों को बदल देती है जो केवल सतही होते हैं। 'बुलेटिन'[१] में इस विषय पर श्रीअरविन्द का एक

[१] श्रीअरविन्दाश्रम के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र की पत्रिका।

उद्धरण था। वे कहते हैं : "पहले मनुष्य को जानना चाहिये और फिर क्रिया करनी चाहिये, जब कि मनुष्य पहले *क्रिया* करते हैं और *फिर* अपनी क्रिया द्वारा जानना चाहते हैं।"

२६ *अगस्त,* १९६६[1]

*

हम जितना अधिक जानते जाते हैं उतना ही अधिक देख सकते हैं कि हम नहीं जानते।

अचंचल मन, स्थिर मन, नीरव-निश्चल मन

अचंचल मन : सीखने का सबसे अच्छा तरीका।

*

मन में पूर्ण अचंचलता : सच्ची प्रगति के लिए आवश्यक शर्त।

*

मन में स्थापित अचंचलता : उसके रूपान्तरण के लिए आवश्यक शर्त।

*

तुम्हें स्थिर मन और नीरव-निश्चल मन में घपला नहीं करना चाहिये। तुम अपने मन को स्थिर कर सकते हो और उसके सामान्य क्रिया-कलापों को रोक सकते हो, लेकिन फिर भी वह बाहर से आने वाले विचारों के प्रति खुला रह सकता है और यह भी स्थिरता में बाधा डालता है। मन को पूरी तरह से नीरव-निश्चल करने के लिए तुम्हें न केवल उसकी क्रिया को बन्द करना होगा बल्कि जो कुछ दूसरे मनों से आता है उससे भी मन को बन्द रखना होगा। यह आसान नहीं है।

[1] यह कथन ध्वन्यांकित किया गया।

इसके अतिरिक्त तुम्हें चेतना के व्यापार और मानसिक व्यापार में भेद करना सीखना होगा। तुम किसी अनुभव के बारे में इस तरह *सचेतन* हो सकते हो कि यह चेतना किसी विचार या विचारों में सूत्रबद्ध न हो। अगर मन को पूरी तरह से अचंचल और नीरव-निश्चल रहना हो तो यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

२६ *सितम्बर*, १९६३

*

अगर उन्हें कोई परिणाम चाहिये तो एक चीज अनिवार्य है : *मन को नीरव-निश्चल होना चाहिये।* तब चेतना के एकाग्र होने की आशा है।

शुरू करने के लिए, उन्हें *अनुभव द्वारा मन और चेतना का भेद* जानना चाहिये जो दो बिलकुल भिन्न चीजें हैं।

जब तक तुम्हें इसका अनुभव न हो, कुछ भी नहीं किया जा सकता।

१ *अप्रैल*, १९६४

*

मन की *नीरव-निश्चलता* का अभ्यास करो, यह समझने की शक्ति देती है।

*

मैं हमेशा तुम्हारे पत्रों का जवाब देती हूं लेकिन कभी-कदास ही मुझे अपना उत्तर कागज पर लिखने का समय मिलता है। तुम इन उत्तरों को सीधा ग्रहण करने में समर्थ हो लेकिन उसके लिए तुम्हें अपने मन को नीरव-निश्चल करना सीखना होगा—यही सच्चा ध्यान है—दिमाग खाली, अचल और ऊपर की ओर मुड़ा हुआ। यह उत्तर पाने के लिए आवश्यक शर्त है। अगर तुम अपने अस्तित्व और अपने विकास की देखभाल 'परम चेतना' के हाथों में सौंप सको तो तुम्हारे हृदय में शान्ति प्रवेश करेगी और तुम्हारी समस्याएं सुलझ जायेंगी।

१६ जून, १९६६

*

साधना को तेज गति से करने के लिए मुझे असल में क्या करना चाहिये?

यथार्थ संकेत के लिए अचंचलता के साथ प्रतीक्षा करो; सभी मानसिक हस्तक्षेप और निश्चय मनमाने होते हैं। स्पष्ट संकेत मन की नीरवता में आता है।

३१ मार्च, १९७०

*

माताजी, 'आपकी आवाज' ने मुझसे कहा, "'अतिमानस' तुम्हारे अन्दर उतर रहा है।" माताजी, क्या यह झूठी आवाज है? क्योंकि मैं जानता हूं कि मैं 'अतिमानस' के लिए बिलकुल तैयार नहीं हूं।

केवल मानसिक *नीरवता* में ही तुम आवाज को विकृत हुए बिना सुन सकते हो—बहुत शान्त रहो।

२९ मई, १९७१

*

अपने-आपको क्षुब्ध मत करो और अपने मन को एकदम अचंचल रखो। सच्चा ज्ञान उस पार से आता है।

आशीर्वाद।

१३ सितम्बर, १९७२

*

(किसी साधक ने गलत सुझावों के आक्रमण से छुटकारा पाने का उपाय पूछा।)

एकमात्र आमूल तरीका है एकाग्र होकर मन के उस पार चले जाना।

नीरवता और निदिध्यासन।

आशीर्वाद।

५ जनवरी, १९७३

हृदय

सरल और निष्ठावान् हृदय की नीरवता में तुम अवतार का रहस्य समझ सकते हो।

८ जनवरी, १९५१

*

हमारे हृदय की गहराई में हमेशा महान् आनन्द रहता है और हम उसे हमेशा वहां पा सकते हैं।

१६ अप्रैल, १९५४

*

सरल और निष्ठावान् हृदय एक महान् वरदान है।

१५ जून, १९५४

*

हमारा मन नीरव और अचंचल होना चाहिये लेकिन हमारा हृदय उत्कट अभीप्सा से भरपूर।

१ जुलाई, १९५४

*

अपने हृदय की गहराइयों में झांको और तुम वहां 'भागवत उपस्थिति' को देखोगे।

१४ जुलाई, १९५४

*

हमारा हृदय कष्ट और मनोव्यथा से शुद्ध हो गया है, वह अटल और स्थिर है और सभी चीजों में भगवान् को देखता है।

२८ नवम्बर, १९५४

*

भगवान् हमेशा तुम्हारे हृदय में आसीन हैं, सचेतन रूप से तुम्हारे अन्दर निवास करते हैं।

२३ जुलाई, १९५५

*

तुम्हें हमेशा पूरी-पूरी सहायता दी जाती है, लेकिन तुम्हें उसे अपने बाहरी साधनों द्वारा नहीं बल्कि अपने हृदय की नीरवता में ग्रहण करना सीखना होगा। तुम्हारे हृदय की नीरवता में ही भगवान् तुमसे बोलेंगे, तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगे और तुम्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचायेंगे। लेकिन इसके लिए तुम्हारे अन्दर 'भागवत कृपा' और 'प्रेम' में पूरी श्रद्धा होनी चाहिये।

१८ जनवरी, १९६२

*

पथ-प्रदर्शन तुम्हारे हृदय में है। अपनी प्रेरणा के अनुसार आगे बढ़ो।

१४ जनवरी, १९७२

*

जब मैं 'आपसे' प्रार्थना करता हूं और अपने हृदय को 'आपके' प्रकाश की ओर खोलता हूं और अपनी इच्छा को 'आपकी' दिव्य इच्छा के अनुकूल रखता हूं तो मैं निश्चिन्त रहता हूं। मुझे लगता है कि मेरी सत्ता 'आपकी' वैश्व 'शक्ति' के साथ समस्वर है और कुछ क्षणों के लिए मैं आश्वस्त हो जाता हूं कि 'आपकी' उपस्थिति मेरे साथ है और कि 'आपने' मेरी प्रार्थना सुन ली और उसका उत्तर दे दिया। ऐसा लगता है मानों मैं 'आपके' दिव्य प्रकाश में नहा रहा हूं और मैं बहुत खुश हो जाता हूं। लेकिन अन्य समय मेरा भौतिक मन प्रश्न करने लगता है और मुझे आश्चर्य होने लगता है कि क्या सचमुच 'भगवान्' के साथ उनके तत्त्व में सम्पर्क जोड़ना इतना आसान है। इस मामले में सत्य क्या है, माताजी, कृपया मुझे बोध प्रदान कीजिये।

अनुभूति तार्किक मन से बहुत आगे तक जाती है। स्पष्ट है कि तार्किक मन को भगवान् तक पहुंचाना बहुत कठिन लगता है लेकिन सरल हृदय उनसे लगभग बिना किसी प्रयास के नाता जोड़ सकता है।

*

पंख हृदय के होते हैं, सिर के नहीं।

*

अपने हृदय से पढ़ो तो तुम समझ जाओगे।
आशीर्वाद।

प्राण

अपने अनुभव से मुझे ऐसा लगता है कि 'जीवन-शक्ति' और शरीर में गतिविधि पैदा करने वाली 'शक्ति' ऊपरी पेट के पिछले हिस्से की गहराई में स्थित है।

हां, उस जगह सृजनात्मक प्राण-शक्ति का आसन है।

१५ दिसम्बर, १९३३

*

प्राण हमारी शक्ति, ऊर्जा, उत्साह, समर्थ क्रियाशीलता का आसन है। उसे विधिवत् शिक्षण की आवश्यकता है।

*

प्राण-चक्र : आवेगमय और बलवान्, वह नियन्त्रण की मांग करता है।

*

प्राण उत्साह देता है लेकिन प्राण स्वभाव से अस्थिर होता है और हमेशा नयी-नयी चीजों की मांग करता रहता है। जब तक कि वह परिवर्तित होकर भगवान् का आज्ञाकारी सेवक न बन जाये, चीजें हमेशा घटती बढ़ती रहती हैं।

*

प्राणिक अभिव्यक्ति की शक्ति तभी उपयोगी होती है जब प्राण परिवर्तित हो जाये।

*

प्राण का परिवर्तन : उत्साहपूर्ण और सहज, वह अपने-आपको अबाध रूप में देता है।

*

जिस दिन प्राण परिवर्तित हो जायेगा उस दिन उसके पास देने के लिए बहुत कुछ होगा।

*

प्राण में उदारता अपने-आपको अबाध रूप से देती है।

*

प्राण में बल अपने सौन्दर्य और अपनी शक्ति को दिखाना पसन्द करता है।

*

प्राण की स्वीकृति : स्नेही, मुस्कुराती हुई बहुत सद्‌भावना के साथ क्रिया करने को हमेशा तत्पर।

*

प्राणिक उत्सर्ग : आनन्ददायक रूप से विनम्र और सुगन्धित, यह अपनी ओर ध्यान खींचना चाहे बिना जीवन की ओर मुस्कुराता है।

*

अविरत प्राण-शक्ति : ऐसी प्राण-शक्ति जो सर्वांगीण उत्सर्ग पर निर्भर है।

*

प्राण में स्थिरता : परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण परिणामों में से एक।

*

प्राणिक पारदर्शिता : परिवर्तन के लिए अनिवार्य।

*

प्राणिक धैर्य : समस्त प्रगति के लिए अनिवार्य।

*

प्राणिक प्रगति : 'भागवत संकल्प' के चारों ओर व्यवस्थापन और इस 'संकल्प' के प्रति उत्तरोत्तर समर्पण।

*

परम उपस्थिति द्वारा शासित प्राण : 'भागवत उपस्थिति' द्वारा शान्त और नियन्त्रित की गयी प्राण-शक्ति।

*

प्राण में रचना करने की क्षमता : सहज लेकिन हमेशा प्रसन्न नहीं होती, उस पर शासन करने की आवश्यकता होती है।

*

प्राण में निष्कपट सरलता : प्राण के लिए जिन चीजों को पाना सबसे अधिक कठिन है उनमें से एक।

*

भगवान् पर भरोसा : आवेगशील प्राण के लिए बहुत अनिवार्य।

*

भगवान् पर प्राणिक भरोसा : साहस और ऊर्जा से भरपूर, अब और किसी चीज से नहीं डरता।

*

जड़-भौतिक में प्राणिक आनन्द : स्वार्थपरता को लुप्त करने का पारितोषिक।

*

प्राण में शान्ति : कामनाओं को लुप्त करने का परिणाम।

*

प्राण में नीरवता : आन्तरिक शान्ति के लिए शक्तिशाली सहायता।

*

प्राण में सच्ची निष्कपटता : सिद्धि का निश्चित मार्ग।

*

प्राण में प्रकाश : लम्बे मार्ग पर पहले चरणों में से एक।

*

प्राण का आध्यात्मिक जागरण : वह शिखरों को पाने की आशा में उनकी ओर उड़ान भरता है।

*

प्राण में छोटी-सी विजय भी महान् परिणाम ला सकती है।

*

प्राण को समस्वर करना श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक कार्य है।
वह सुखी है जो इसे चरितार्थ कर ले।

*

मैं लड़ते हुए अहंकारों की इस दुनिया से तंग आ गया हूं।

यह स्वाभाविक है : मानव प्राण का संसार कुरूप संसार है, उसे बदलने की बहुत आवश्यकता है।

*

कोई गम्भीर वस्तु कर सकने से पहले अहंकारमयी प्राणिक प्रतिक्रियाओं को विलीन होना होगा।

३ मई, १९७१

*

जीवन में अभिव्यक्त होती हुई प्राणिक इच्छा : यह बहुधा सबसे बड़े उपद्रवों का कारण होती है।

*

जब तक नियन्त्रित न की जाये प्राणिक संवेदना हद से ज्यादा होती है।

*

मैं बहुत संवेदनशील बन गया हूं और जरा-जरा से कारणों से भी परेशान हो उठता हूं।

ये प्राणिक क्षुब्धताएं हैं जो साधना के मार्ग में प्रकट होती हैं, इनको निकाल बाहर करना होगा। उन्हें स्वाभाविक गतिविधियों की तरह न मानो जिन्हें दूसरों के गलत कार्य न्यायसंगत ठहराते हैं और जिनका बने रहना तब तक अवश्यम्भावी है जब तक बाहरी कारण बना रहे। सच्चा कारण आन्तरिक है और यौगिक अनुशासन, जागरूकता, अनासक्ति व अचंचल लेकिन नियमित त्याग द्वारा इनसे छुटकारा मिल सकता है।

*

रही बात प्राण के परिवर्तन की, जब तुम अपनी उच्चतर चेतना में बने रहने की आदत बना लोगे तो यह अपने-आप आ जायेगा; वहां ये सब नगण्य चीजें और गतिविधियां निरर्थक होती हैं।

*

व्यक्ति अन्धकारमय प्राण को कैसे जीत सकता है? या अन्धकारमय प्राण को आलोकमय प्राण में बदलना कैसे सम्भव है?

प्राण के समर्पण द्वारा, प्रकाश के प्रति उद्‌घाटन और चेतना की वृद्धि द्वारा।

*

प्राण में उचित वृत्ति :

आत्म-विश्वास—

मानसिक और प्राणिक अचंचल श्रद्धा—

अपनी सिद्धि में और भागवत सहायता में श्रद्धा।

इन्द्रियां

इन्द्रियां झूठी हैं—वे हमारे पास चीजों का सत्य नहीं बल्कि उनका एक अपूर्ण, यहां तक कि मिथ्या रंग-रूप लाती हैं।

*

यह समझना बहुत अधिक अज्ञानमय है कि हमारी आंखें और हमारे कान धोखा नहीं देते। हर मनोवैज्ञानिक जानता है कि वे धोखा देते हैं। यह तथ्य सभी जानते हैं कि हम आंख-कान पर आधारित मानव साक्षी का भरोसा नहीं कर सकते, कि उन पर आधारित अनुमान हमें गम्भीर भ्रान्तियों की ओर ले जा सकते हैं। एक ही घटना के बारे में दस आदमी कहें तो दस अलग-अलग वृत्तान्त होंगे।

*

ठीक-ठीक बोध : ऐसा बोध जो 'सत्य' को विकृत नहीं करता।

*

'सत्य' के प्रति सम्पूर्ण समर्पण से ही पवित्रीकृत इन्द्रियां प्राप्त हो सकती हैं।

शरीर (भौतिक)

भौतिक केन्द्र : मुख्य रूप से भौतिक चीजों में व्यस्त रहता है, वह व्यवस्थित जीवन पसन्द करता है।

*

दिव्य जननी,

मैं अपनी सत्ता के सभी भागों में आपकी 'दिव्य उपस्थिति' को चरितार्थ करना चाहता हूं जो शरीर तक में बिंधी हुई हो। लेकिन मैं नहीं जानता कि यह कैसे किया जाये। आप ही मेरी सत्ता का परम हेतु हैं। तब फिर मैं अपने शरीर के कोषाणुओं तक में 'आपकी उपस्थिति' अनुभव किये बिना क्यों जीता हूं?

भौतिक प्रकृति अन्धकारमयी और हर जगह उद्दण्ड है। उसके लिए 'भागवत उपस्थिति' के बारे में सचेतन होना बहुत कठिन है।

इसीलिए हमें धीरज धरना चाहिये और 'विजय' की निश्चिति के साथ अभीप्सा करते रहना चाहिये।

मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

२५ जून, १९३५

*

अन्धकारमयी भौतिक 'प्रकृति' पर हम जो विजय पाते हैं उनमें से हर एक आने वाली बड़ी विजय की प्रतिज्ञा होती है।

*

भौतिक में सत्ता का आनन्द भगवान् के प्रति कृतज्ञता की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति है।

१६ जून, १९४१

*

भगवान् हमारे शरीर के परमाणुओं तक में विद्यमान हैं।

२२ मई, १९५४

*

स्वयं भौतिक सत्ता भी पूर्ण सच्चिदानन्द का आसन हो सकती है।

२९ मई, १९५४

*

शरीर के लिए जानने का अर्थ है कर सकना। वस्तुतः शरीर केवल उसी को जानता है जिसे वह कर सकता है।

२३ जून, १९५४

*

भौतिक में शान्ति : भगवान् जो चाहते हैं वही चाहना, इसकी सबसे अच्छी स्थिति है।

*

कोषाणुओं में शान्ति : शरीर की प्रगति के लिए अनिवार्य स्थिति।

*

कोषाणुओं में प्रकाश : कोषाणुओं में शुद्धि की ओर पहला चरण।

*

कोषाणुओं की शुद्धि कामनाओं पर विजय के बिना नहीं पायी जा सकती। अच्छे स्वास्थ्य के लिए यही सच्ची स्थिति है।

*

कल रात मैंने अपने शरीर में जिस प्रतिरोध का अनुभव किया उसकी अभूतपूर्व प्रकृति के बारे में आप दो शब्द न कहेंगी?

यह शरीर के कोषाणुओं में मानसिक रूप लिये हुए द्रव्य तत्त्व का प्रतिरोध

है और केवल सर्वांगीण और पूर्ण परिवर्तन के द्वारा ही इस पर विजय पायी जा सकती है।

आशीर्वाद।

१६ जून, १९६१

*

क्या व्यक्ति के एकदम भौतिक कोषाणुओं में शेष सत्ता से अधिक अभीप्सा हो सकती है?

यह बिलकुल सम्भव है क्योंकि अब साधना स्वयं शरीर में की जा रही है।

जनवरी १९६६

*

आन्तरिक प्रगति इतने पर्याप्त रूप से तेज हो रही है कि बाहरी सत्ता उसके अनुसरण में कठिनाई अनुभव करती है। अब शरीर को 'भागवत शक्ति' को पाना और उसे बनाये रखना सीखना होगा।

*

भौतिक में पारदर्शिता : भौतिक अपने-आपको रूपान्तर के लिए तैयार कर रहा है।

*

भौतिक में आनन्द : इसका स्वागत हो, भले यह अपने-आपको कभी-कदास ही अभिव्यक्त करे।

*

भौतिक शरीर में आनन्द : पूर्ण समानता और समर्पण में, समस्त कामनाओं और विरक्तियों से शुद्ध होकर भौतिक शरीर भागवत 'आनन्द' का रसपान करने को तैयार है।

*

चक्रों में आनन्द : यह भौतिक परिवर्तन के अच्छे परिणामों में से एक परिणाम होगा।

*

जड़-भौतिक में समग्र समतल आधार : जब तुम्हारी सारी भौतिक गतिविधियां व्यवस्थित, सुसमञ्जस और समन्वित हो जायें और जब सभी चीजें तुम्हारे अन्दर अपना स्थान पा लें और इस तरह तुम्हारी समस्त भौतिक नींव तैयार हो जाये तो वह दिव्य 'प्रकाश' और 'शक्ति' को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

*

जड़-भौतिक चेतना में दृढ़, ठोस स्थिरता होती है।

अवचेतना

(माताजी ने 'क' को लिखा था कि 'ख' के प्रति उसकी घृणा, 'ख' के प्रति उसके प्रबल आकर्षण के कारण है। जब उसके बारे में पूछा गया तो उन्होंने लिखा :)

स्पष्ट है कि मैं किसी अवचेतन की गति के सन्दर्भ में कह रही थी—लेकिन तुम्हें उसके बारे में चिन्ता करने या उस पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत नहीं—एक दिन सहज रूप से समझ आ जायेगी।

*

ये सफाइयां हैं, ऐसे बहाने हैं जिन्हें ऐसी परिस्थितियों में मन हमेशा ढूंढ़ लेता है। लेकिन ये मानसिक सफाइयां गतिविधियों के पीछे आतीं या अधिक-से-अधिक उनके साथ चलती हैं, वे कभी उनसे पहले नहीं आतीं।

जो चीज गति आरम्भ करती है वह अपने अन्धकारमय आवेग, सहजवृत्तिमूलक, लगभग यन्त्रचालित और अपने मूल में अचेतन होती है। कोई ऐसी चीज जो विरोध तो करती है लेकिन यह नहीं जानती कि क्यों।

(यह यही अचेतना है जो "क" को पीछे धकेलती है। हालांकि, यह पीछे धकेलना या पीछे हटना न्यायोचित नहीं है—ये अपने-आपमें अचेतना की क्रियाएं हैं।)

अप्रैल, १९३२

*

क्या अवचेतना ने 'उच्च' परम चेतना को स्वीकार कर लिया है?

अगर अवचेतना परम चेतना को स्वीकार कर ले तो फिर वह अवचेतना ही न रह जायेगी, वह चेतना बन जायेगी। मेरा ख्याल है कि तुम्हारा मतलब है : क्या अवचेतना ने 'उच्च' परम चेतना के शासन के प्रति, उसके विधान के प्रति समर्पण कर दिया है? यह पूरी तरह से नहीं हुआ है, क्योंकि अवचेतना विशाल और जटिल है; एक मानसिक अवचेतना

होती है, एक प्राणिक अवचेतना होती है, एक भौतिक अवचेतना होती है और एक शारीरिक अवचेतना होती है। हमें अवचेतना को उसके अज्ञानी और जड़ प्रतिरोध से थोड़ा-थोड़ा करके बाहर निकालना होगा।

१ जुलाई, १९३५

*

इन छोटी-मोटी भौतिक असुविधाओं को भी प्रगति को तेज करने के काम में लाया जा सकता है। इन सभी प्रतिरोधों का स्थान अवचेतना में है। हमें सचेतन संकल्प के साथ उसमें प्रवेश करना चाहिये और अर्ध-सचेतन जड़-भौतक में भी भगवान् के शासन की स्थापना करनी चाहिये।

२ फरवरी, १९३८

*

विरक्ति की तुम्हारी पहली वृत्ति सच्ची वृत्ति थी। तुम अब जिस कमजोरी का अनुभव कर रहे हो यह साधारणतः सामूहिक सुझावों का परिणाम है जो पुराने विचारों और अनुभवों की अवचेतन स्मृतियों के द्वारा कार्य कर रही है।

हमारी सहायता और आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

(६ जनवरी, १९३९)

*

अवचेतना की स्मृति को उस सबसे शुद्ध होना चाहिये जो व्यर्थ है।

*

अवचेतना में सत्य की शक्ति : यह तभी कार्य कर सकती है जब तुम्हारी निष्कपटता पूर्ण हो।

*

क्योंकि तुम्हारी अभीप्सा सच्ची और निष्कपट है, इसलिए अवचेतना में जो कुछ 'भागवत उपलब्धि' के मार्ग में खड़ा था वह रूपान्तरित होने

के लिए ऊपरी सतह पर आ गया है, तुम्हें प्रगति करने के ऐसे अवसरों पर खुश होना चाहिये।

४ जुलाई, १९५५

*

क्या मनुष्य अपनी अवचेतना पर नियन्त्रण करना उसी तरह सीख सकता है जिस तरह वह अपने सचेतन विचार पर नियन्त्रण करता है?

विशेष रूप से शरीर के सोते समय मनुष्य अवचेतना के सम्पर्क में होता है। अपनी रातों के बारे में सचेतन होकर अवचेतना को वश में करना अधिक आसान हो जाता है।

संयम तभी पूर्ण हो सकता है जब कोषाणु अपने अन्दर भगवान् के प्रति सचेतन हो जायें और जब वे अपने-आपको स्वेच्छा से 'उनके' प्रभाव के प्रति खोलें। इसी कार्य के लिए वह चेतना कार्य कर रही है जो पिछले साल धरती पर उतरी थी। धीरे-धीरे शरीर की अवचेतन यान्त्रिकता का स्थान भागवत परम उपस्थिति ले रही है और जो शरीर के समस्त क्रिया-कलापों पर शासन कर रही है।

१३ अप्रैल, १९७०

*

अवचेतना में काम करती हुई भागवत इच्छा : विरल क्षण जब भगवान् प्रत्यक्ष रूप से 'अपना' प्रभाव डालते हैं।

*

दुर्घटनाओं के बारे में : क्या हम कह सकते हैं कि अचेतन और असामञ्जस्यपूर्ण स्पन्दन दुर्घटनाओं को आकर्षित करते हैं और यह भी कि गलती कभी एकतरफा नहीं होती? इसलिए ज्यादा अच्छा होगा कि किसी दुर्घटना के बाद कुछ समय के लिए गाड़ी चलाना

बन्द कर दिया जाये जब तक कि "आत्मसंयम और चेतना में बहुत प्रगति न कर ली जाये।"

ऐसा करना चाहिये और अपनी अवचेतना को आलोकित करने के लिए यह अनिवार्य होता है।

१९७१

सामान्य

भौतिक स्वास्थ्य की तरह मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य भी है। जैसे शरीर और क्रिया-कलाप की सुन्दरता होती है उसी तरह संवेदनों में भी सुन्दरता और सामञ्जस्य होता है।

*

सच्ची बुद्धि पाने के लिए अपने मन से बाहर निकलो।
सच्ची अनुभूति पाने के लिए संवेदनों से बाहर निकलो।
सच्ची क्रियाशीलता पाने के लिए अपनी भावुकता से बाहर निकलो।

*

मन के लिए—ज्ञान।
हृदय के लिए—प्रेम और आनन्द।
प्राण के लिए—शक्ति।
भौतिक द्रव्य के लिए—सुन्दरता।

माताजी के वचन-II में मुख्यतया आध्यात्मिक जीवन के विविध पहलुओं पर श्रीमां द्वारा लिखित संक्षिप्त वक्तव्य हैं। विषय हैं: हमारा भगवान् के साथ संबंध; योग का पथ; योग के तत्त्व (सचाई, अभीप्सा, श्रद्धा, भक्ति, समर्पण आदि); कठिनाइयां, गलतियां, मानव स्वभाव की कमजोरियां; मानव संबंध; और कर्म। ये सब वक्तव्य श्रीमां के परिपत्रों, सन्देशों और पत्राचारों से संकलित किये गये हैं।

ISBN 978-81-7058-882-5
9 788170 588825

ISBN 978-81-7058-882-5
Rs 180